पुस्तकालय

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या .... आगत संख्या 24604

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

उपाध्याय

ॐ

त्रिदोष-विज्ञानम्

हिन्दीभाषाटीकोपेतम् ।

दी आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी तिब्बियाकालिज
देहली नामधेयमहाविद्यालयाध्यापक
काव्यतीर्थ-व्याकरणतीर्थ-सांख्यतीर्थ-सांख्यसागर
कविराज श्री उपेन्द्रनाथ दास भिषगाचार्येण
प्रणीत मनूदितं प्रकाशितंच ।

 [मूल्यं पादोन रुप्यक द्वयम्-१॥)

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्

प्रोफ़ेसर श्रीउपेन्द्र नाथ दास, सदर बाज़ार देहली ।

बम्बे पुस्तक एजेन्सी, दरीबा कलां, देहली ।

सूरि ब्रादर्स, लाहौर ।

शारदा मन्दिर लिमिटेड, नई सड़क देहली

भुजंग-बाण-ग्रह-चन्द्रसंख्ये
शाके सिते श्रावणसंज्ञ मासे
चन्द्राख्यमुद्रालय इन्द्रप्रस्थे
प्रकाश्यते शंकरदेवयत्नात ।

फतेहपुरी देहलीस्थित
चन्द्र प्रिण्टिङ्ग प्रेस में
श्रीमान् पण्डित शंकरदेव पाठक काव्यतीर्थ,
महाशय के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ ।
(१९५८ शकाब्द श्रावण शुक्ल पक्ष)

ॐ

प्राक्कथनम्

करुणावरुणालयस्य जगदीश्वरस्यासीमानुकम्पया सुहृदामन्तेवासिनां च चिराभिलषितं "त्रिदोषविज्ञानं" सानुवादं प्रकाश्यते। पुस्तकप्रकाशनप्रयोजनं तु त्रिदोष विचार प्रयोजनाख्ये प्रथमाध्याये व्यक्तीभविष्यति। आयुर्वेदजीवनभूतस्त्रिदोषसिद्धान्तस्तन्मूलभूतश्च पांचभौतिकसिद्धान्तो यन्त्रादिसाधनसम्पन्नैरखिलभूमण्डलमुख्यैराधुनिकवैज्ञानिकैस्तथाऽधिक्षिप्तो यथाऽधुना प्राच्यप्राचीनशास्त्र विश्वासिनामपि केषांचिन्मतिः पञ्चभूतत्रिदोषस्वरूपादौ सन्देह दोलाकुला संजाता समवलोक्यते। आयुर्वेदशाखिनो जीवनभूतस्य त्रिदोषसिद्धान्तस्य तन्मूलभूतस्य च पांचभौतिकसिद्धान्तस्या वैज्ञानिकत्वे सिद्धे सिध्यत्यायुर्वेदस्याप्यवैज्ञानिकत्वमित्यतो नायमायुर्वेदो वैज्ञानिकानुमताधुनिक चिकित्साविधिरिव राजसहायताभाग्भवितुमर्हतीति विचिन्त्य केचिदर्वाचीनप्राचीन चिकित्साशास्त्र पारदर्शिनः पाश्चात्य मतेन सह सामंजस्यसाधनाय

त्रिदोषसिद्धान्तस्य विभिन्नरूपां व्याख्यां कृतवन्तो या व्याख्या नैव प्राचां नाप्यर्वाचीनानां सन्तोषसाधनाय समर्था समभवत। महाराष्ट्रीयैरपि भिषग्भिस्त्रिदोषविषये कृतो विचारविनिमयः पंचभूतस्वरूपादिनिर्णयमन्तरेण सफलतां नागमत्। पंचभूत त्रिदोषादीनां सूक्ष्मनिर्णयाय दार्शनिकवैज्ञानिकदक्षतरवैद्यानां विचारविनिमयो नितरामपेक्ष्यत इति पूज्यपादश्रीमन्मदनमोहन मालवीयश्रीमद्यादव जी आचार्य श्रीमद्वामनशास्त्रि दातार प्रभृतीनां सुगृहीतनामधेयानामसमासीमोद्योगेन निखिल भारत विद्यापीठकेन्द्रभूतवाराणसीनगरे हिन्दूविश्वविद्यालये १९३५ खृष्टाब्दस्यान्तिमभागे पंचभूतत्रिदोषचर्चार्थं सप्ताहव्यापि निखिलभारतीयविद्वत्सम्मेलनं समजनि। तस्मिन् खलु सम्मेलने दिनत्रयंयावत्पंचभूतविषयिणी दिनत्रयं यावत्त्रिदोषविषयिणी च चर्चा समभवत्। विभिन्नप्रदेशप्रसिद्धविद्वत्सम्मतिनिर्धारिता सम्मेलनविचार्यविषयसूची सप्ताष्टमासतोऽर्वागेव सर्वत्र वितरिताऽभवत्। पांचभौतिकसिद्धान्ते त्रिदोषसिद्धान्ते च ये य आक्षेपाः सम्भवन्ति तेषां निराकरणद्वारा पंचभूतत्रिदोषस्वरूपादिनिर्णयो यथा सम्भवति तथैवेयं विचार्यसूची विरचितासीत्। तत्र पंचभूतचर्चापरिषद्विचार्यसूचीनिर्धारितान् विचार्यविषयानवलम्ब्य पंचभूतविज्ञान नामधेयं सानुवादं ग्रन्थं प्राक् प्रकाश्य त्रिदोषचर्चापरिषद्विचार्यसूचीलिखितान् विचार्यविषयानवलम्ब्य विरचितमिदं सानुवादं त्रिदोषविज्ञानं विचारार्थं विपश्चितां पावनेषु करेषु सादरं समर्प्यते। पांचभौतिकसिद्धान्ते त्रिदोष

सिद्धान्ते च ये य आक्षेपाः सम्भवन्ति तेषां निराकरणद्वारा प्रतिपाद्यविषयाणां विशदवर्णनार्थमत्र यथाशक्ति कृतो मया प्रयास स्तथापि भ्रमप्रमादादिपरीतस्य मादृशस्याल्पज्ञस्यातिविमल विपुलबुद्धिविद्यायशोधनसम्पाद्ये सुदुष्करे कार्ये पदे पदे भ्रम सम्भावना वरीवर्तते किन्तु पावनेन विपश्चितामानुकूल्येन सत्य सिद्धान्तनिर्णयाशया कृतोऽत्र मया समुद्योग इति ।

अत्रेदमावेदन मस्य पुस्तकस्य वर्णनीया ये सिद्धान्ताः पंच भूतविज्ञाने वर्णिता स्तेषां पुनरुल्लेखो नात्र कृत इति प्राक् पंच भूतविज्ञानमधीत्य सम्यग् विचार्य ततः पठनीयं त्रिदोषविज्ञानमिति

पुनरपि निवेद्यते यदेतत्पुस्तकवर्णितो यदि कश्चित् सिद्धान्तः कस्यचिद् विद्वद्वरेण्यस्य विचारे विरुद्धइवाभाति ततः कथमसौ विरुद्धः कीदृशं वा तस्य परिवर्तनं श्रीमद्भिः कथमिष्यत इति विज्ञाप्य तत्रमदीयमावेदन मपि श्रोतव्यमेवं विचारविनिमयद्वारा सत्यसिद्धान्तनिर्णयो निरायासमेव भविष्यतीति ।

त्रिदोषतत्त्वादिबुभुत्सोत्सुकानां भिषजामन्तेवासिनां वा ग्रन्थेनानेन यदि कश्चिदुपकारः संजायते तदैव परिश्रमो मे सफलो भविष्यतीति मन्यते ।

येषां गुरूणां कृपया महत्या यत्नेन येषां सुहृदां वरेण ।
श्रमेण येषां परिपूर्णमेतत्तेषां कृते मे बहुधन्यवादाः ॥

उपेन्द्रनाथस्य सदानतस्य

प्राक्कथन

परम कारुणिक परमेश्वर की अपार करुणा से मित्र-वर्ग तथा विद्यार्थिवृन्द का चिरवाञ्छित त्रिदोष विज्ञान भी पञ्चभूत विज्ञान के साथ २ अनुवाद सहित प्रकाशित कर उनके हाथों में सौंपने को समर्थ हुआ हूं। इस पुस्तक का प्रयोजन त्रिदोष विचार प्रयोजन नामक प्रथमाध्याय में ही लिखा जायगा। आयुर्वेद के जीवन-स्वरूप त्रिदोष सिद्धान्त और उसके भी मूलभूत पांचभौतिक सिद्धान्त के ऊपर समस्त पृथिवी में अपने सिद्धान्तों को यन्त्रादि से प्रमाणित करने वाले आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस प्रकार भयंकर आक्षेप किये हैं जिनसे प्राचीनशास्त्रों में विश्वास रखने वालों की बुद्धि भी पाञ्चभौतिक सिद्धान्त तथा त्रिदोष-सिद्धान्त के विषय में संदिग्ध सी होगई। आयुर्वेद के जीवन-स्वरूप त्रिदोष सिद्धान्त और उसका भी मूलभूत पाञ्चभौतिक सिद्धान्त यदि वैज्ञानिकों की कसौटी पर ठीक न उतरे तो आयुर्वेद का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि जबतक आयुर्वेद का सिद्धान्त वैज्ञानिक कसौटी पर

ठीक नहीं उतरता है तब तक वैज्ञानिक कहलाने वाली चिकित्सा प्रणाली के मुकाबले में राजा वा प्रजा से आयुर्वेद को सहयाता मिलनी भी असम्भव है। इसलिए प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्साशास्त्रों में सुनिपुण कुछ विद्वानों ने त्रिदोष सिद्धान्तों की भिन्न २ प्रकार से व्याख्या भी की है किन्तु उन व्याख्याओं से प्राचीन अथवा अर्वाचीन कोई भी सर्वथा सन्तुष्ट नहीं हुआ। त्रिदोष के स्वरूपादि निर्णय के लिए महाराष्ट्रप्रान्तीय वैद्यमहोदयों ने भी सामूहिक रूपसे कुछ चेष्टा की थी किन्तु त्रिदोष के स्वरूपादि निर्णय से पहले बिना पञ्चभूत स्वरूपादि निर्णयके उनकी चेष्टा भी असफल ही रही। केवल वैद्यों की चेष्टा से पाञ्चभौतिक सिद्धान्त और त्रिदोष सिद्धान्त का सूक्ष्म निर्णय होना असम्भव सा जानकर देशपूज्य महामना श्रीमान् पं० मदन मोहन मालवीयजी, श्रीमान् यादवजी त्रिकमजी (बम्बे, श्रीमान वामन शास्त्री दातार (नासिक) प्रभृति महानुभावों ने गत नवम्बर मास १९३५ में बनारस हिन्दू विश्व-विद्यलय में एक अखिल भारतीय विद्वत् सम्मेलन का अनुष्ठान किया था। उस सम्मेलन में भारत के सभी प्रान्तों से प्रसिद्ध दार्शनिक, वैज्ञानिक, डाक्टर और वैद्य निमन्त्रित थे। विभिन्न प्रान्तों के बहुसंख्यक दार्शनिक, वैज्ञानिक, डाक्टर और वैद्य उस सम्मेलन में उपस्थित भी हुए थे। तीन दिन तक पाञ्चभौतिक सिद्धान्त पर और तीन दिन तक त्रिदोष सिद्धान्त पर मौखिक वाद विवाद हुआ। विभिन्न प्रान्तों के प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मतिसे पञ्चभूत चर्चा परिषत् के लिए २० विषयों की और त्रिदोषचर्चा परिषत् के लिए १० विषयों की एक विचार्य सूची सम्मेलन से ७, ८ मास पूर्व मुद्रित कराकर विद्वानों में बाँटी गई थी। पाञ्चभौतिक और त्रिदोषसिद्धान्त

पर जितने आक्षेप हो सकते हैं उनका निराकरण करके प्रस्तुत विषय के विशद वर्णन को लक्ष्य कर विचार्य सूची की रचना हुई थी ।

पञ्चभूत-चर्चा की विचार्य-सूची को अवलम्बनकर पञ्चभूत-विज्ञान नामक एक संस्कृत प्रबन्ध तथा त्रिदोष चर्चा की विचार्य-सूची के अनुसार त्रिदोष-विज्ञान नामक दूसरा प्रबन्ध लिखकर मैं भी सम्मेलन में उपस्थित हुआ था। मेरी इच्छा थी कि मैं 'स्थापना पक्ष में इस प्रबन्ध को उपस्थित करूँ और इस पर वाद विचार हो किन्तु सम्मेलन में वक्ताओं की संख्या अधिक और समय कम होने से वहाँ प्रबन्ध को पढ़ने का अवकाश ही नहीं मिला। सम्मेलन में सब वाद-विवाद मौखिक ही हुआ। समय की अल्पता से सब विषयों पर विस्तृत विचार भी न हो सका और विचार्य सूची में लिखे हुए प्रत्येक विषय पर लेख-बद्ध विचार को सब ही जिज्ञासु चाहते हैं इसलिये पञ्चभूत विज्ञान को हिन्दी भाषानुवाद सहित प्रकाशित कर त्रिदोष-विज्ञान को भी अनुवाद-सहित प्रकाशित करके विचारार्थ विद्वानों के पवित्र कर-कमलों में समर्पित करता हूँ।

इस पुस्तक में त्रिदोष सिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों का निराकरण कर त्रिदोष सिद्धान्तों को विस्तृत रूप से समझाने की यथाशक्ति चेष्टा की गई है। कार्य के गुरुत्व और अपनी शक्ति के क्षुद्रत्व की तुलना करने से बहुत स्थानों में भ्रम-प्रमाद होने की सम्भावना प्रतीत होती है, फिर भी सहृदय विद्वानों की सहयोगिता से सत्य-सिद्धान्त निर्णय होने की आशा से मैंने ऐसा दुःसाहस किया है।

यदि इस पुस्तक का कोई भी सिद्धान्त किसी विद्वान् को विरुद्ध या

भ्रम-पूर्ण मालूम पड़े तो त्रुटि तथा तत्स्थानिक उचित परिवर्तन कारणसहित मुझे सूचित करने का कष्ट उठायें और उस पर मेरा जो नम्र निवेदन हो सुनने की कृपा करें। इस प्रकार विचार विनिमय के बाद पुस्तक का जो अंश परिवर्तन के योग्य समझा जावेगा उसमें परिवर्तन कर दिया जायगा। सत्यसिद्धान्त की इच्छा रखने वाले विद्वानों को इस वाद में अवश्य भाग लेना चाहिए। पञ्चभूत-त्रिदोष-चर्चा-परिषत् का भी यही उद्देश्य है कि वाद-विचार द्वारा दुरूह तत्वों का निर्णय किया जाय।

इस पुस्तक में कुछ सिद्धान्त ऐसे भी हैं जिनका विस्तृत वर्णन पञ्चभूत विज्ञान में किया गया है इसलिये इस पुस्तक में उनका पुनरुल्लेख नहीं किया गया। सहृदय पाठकों से निवेदन है कि वें प्रथम पञ्चभूत-विज्ञान को अच्छी तरह से पढ़ने के बाद त्रिदोष-विज्ञान को पढ़ने की कृपा करें तो मेरे वाक्यों को सरलता से समझ सकेंगे और देख सकेंगे कि प्राचीन सिद्धान्त किसी आधुनिक सिद्धान्त से कम नहीं है वरन् प्राचीन सिद्धान्तों की अपेक्षा से आधुनिक सिद्धान्त बहुत ही अपूर्ण है।

जिन गुरुजनों की असीम कृपा से तथा जिन बन्धुजनों के परिश्रम और यत्न से यह पुस्तक पूर्ण हुई है उनका मैं सदैव के लिए हृदय से आभारी हूं और कृतज्ञता पूर्ण आंतरिक धन्यवाद देता हूँ।

विनीत ग्रन्थकार

त्रिदोष-विज्ञानस्य सूचीपत्रम्



त्रिदोष-विज्ञानस्य शुद्धिपत्रम्

पृष्ठांकः	पँक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५	३	वागन्तव्य	वावगन्तव्य
५	७	क्रियोयोगः	क्रियायोगः
५७	३	दाहक	दाहिका
६५	२	भीयन्ते	मीयन्ते
६६	४	व्यक्रत्व	व्यक्तत्व
८४	४	कफाभावात्	कफो भावात्
९५	४	त्पति	त्पत्ति
१०८	५	वायुः संज्ञा	बायुसंज्ञा
११५	७	क्षारद्यैः	क्षाराद्यैः
१२२	९	पिछिलइति	पिच्छिलश्चैव
१३२	५	पोयक	पोषक
१४२	४	भौमाग्नि	भौमादि
१४४	१	त्वादवगन्तव्यम्	त्वात् सूक्ष्मपाकस्य
१४४	२	मेवसूक्ष्मपाकस्य	मेवावगन्तव्यम्
१४९	५	शोयादौ	शोथादौ
१५७	७	युञ्जानां	पुञ्जानां
१६७	६	राग	रोग
१७०	१	उपपद्यते	उत्पद्यते

१७०	८	निश्चीयते	निश्चेतुं
१७६	३	रोगा	रागा
१६२	१	क्षेपाचि	क्षेपोचि
२२६	३	नानुरुध्यंते	नानुवध्यन्ते
२२७	४	रोगेत्पत्य	रोगोत्पत्त्य
२२८	१	शक्यते	न शक्यते
२३०	१	संशय	संश्रय
२३०	६	न्नोत्य	न्नौत्प
२३४	८	चिदैक	चिदेक
२३७	६	सम्बन्ध	सम्बन्धं
२३८	३	त्यत्यन	त्पत्यन
२३८	७	दीनस्ति	दीनामस्ति
२३८	६	प्रमाण	प्रमाणं
२४३	३	भिवे	मिवे
२४३	५	संक्षोभ्या	संक्षोभ्य
२५४	२	अनसमवगयि	नासमवायि
२५४	३	देव	देवं
२६१	५	तालपता	तालपज्ञता
२७६	३	दासेन्	दासेन

त्रिदोष-विज्ञानम्

त्रिदोषविज्ञानम्

मङ्गलाचरणम्—

गुरुश्रीवरदाकान्तं श्रीश्यामाकान्तसंयुतम् ।
नत्वोमाचरणं ध्येयं विघ्नध्वंसकरं शिवम् ॥

मंगलाचरण—

गौरवमय, लक्ष्मी और वर को देने वाले तथा अतिमनोहर (भूपतित) श्रीशंकर जी के वक्षोपरि अवस्थित, ध्यान करने के योग्य, विघ्ननाशकों में श्रेष्ठ, मंगलमय जगन्माता कालिका जी के चरण को अथच अपने गुरु श्रीमान् वरदाकान्त जी, श्रीमान श्यामाकान्त जी तथा काशीप्राप्तिजन्य शिवत्वप्राप्त अतएव केवल ध्यान से जानने के योग्य मंगलमय विघ्ननाशक (गुरु की कृपा सब विघ्नों को नाश करती है) उमाचरण जी को प्रणाम

नानातन्त्रोक्तमाहृत्य युक्तितर्कादिसम्मतम् ।
अयुक्तं कल्पनामात्रं खण्डयित्वाऽदृढं मतम् ॥
सत्यसिद्धान्तकामानां बुधानां विनियोगतः ।
विज्ञानाख्यं त्रिदोषाणामुपेन्द्रेण प्रतन्यते ॥

प्रार्थना—

प्राचीनमित्येव न साधु सर्वं,
पाश्चात्यमित्येव न सर्वसत्यम् ।
सन्तो विचार्यान्यतरद्भजन्तां,

करके, नानाशास्त्रों से युक्ति-तर्कादिसिद्ध मत को संग्रह करके तथा अयुक्तियुक्त केवल कल्पनामात्र सिद्ध दुर्बल मतों का खण्डन करके सत्य सिद्धान्तों के जिज्ञासु विद्वानों के नियोग से उपेन्द्रनाथदास त्रिदोष विज्ञान को विस्तार से वर्णन करता है । १-३ ॥

प्रार्थना—

कोई सिद्धान्त प्राचीन (पुरातन या पूर्व देशीय) होने ही से सत्य नहीं माना जा सकता । तथा केवल पाश्चात्य (पश्चिमदेशी अथवा आधुनिक) होने ही से सब सिद्धान्त सत्य नहीं होते विद्वान पुरुष तो विचार कर ही किसी बात को मानते हैं केव

मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

दूसरे के वाक्य से किसी को अच्छा या बुरा समझना मूर्ख का स्वभाव है ।

प्रथमोऽध्यायः

त्रिदोषविचारप्रयोजनम्—

स्वस्थातुरपरायणस्यायुर्वेदस्य प्रयोजनद्वयं भगवता धन्वन्तरिणाभिहितम्, तद्यथा—"वत्स सुश्रुत ! इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं चेति" (सु० सू० १)। तत्र स्वास्थ्यरक्षणं नाम व्याध्युत्पत्तिप्रतिरोधो व्याधिकारणं ज्ञात्वा तत्परिहारादेव सम्भवति कारणपरित्यागे कार्योत्पत्तेः सुतरामेव निरोधात्

त्रिदोषविचार का प्रयोजन—

स्वस्थ और रोगी सब के हितकारी आयुर्वेद के दो प्रयोजन भगवान धन्वन्तरिने बताये हैं। जैसे–वत्स सुश्रुतसंसारमें आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं। १ स्वस्थ मनुष्य की रक्षा करना (व्याधि से बचाना) और रोगी मनुष्य को रोगसे मुक्त करने का यत्न करना। सु० सू० १। इसमें स्वस्थ की रक्षा शरीर में रोग उत्पन्न न होने देने से हो सकती है। इसके लिए रोग-कारण को जानकर उनको छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। कारण का परित्याग करनेसे कार्यकी उत्पत्ति

सति च कारणकलापे कार्योत्पत्तेर्दुर्निवारत्वाद्व्याधिकारण-सेवनं स्वास्थ्यपरिरक्षणं च युगपन्नैव कदाचित् सम्भवति तस्मादेवागन्तव्यः स्वास्थ्यरक्षार्थं रोगकारणकलापः । संजाते च रोगे तत्प्रतीकारार्थमपि रोगकारणं ज्ञातव्यमेव । यथार्द्रेन्धनानलयोरपसारणमन्तरेण धूमनिवृत्तिर्न सम्भवति तथैव रोगकारणापसारणमन्तरेण रोगापनयनमसम्भवमेव । यदुक्तं 'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनमि'ति । एवमायुर्वेदप्रयोजनद्वयसाफल्याय रोगकारणज्ञान-

---

स्वयं ही बन्द हो जावेगी। कारणसमूह की उपस्थितिमें कार्यकी उत्पत्ति को बन्द करना असम्भव है। रोगों के कारण का सेवन भी करे और स्वास्थ्य की रक्षा भी हो ये दोनों ही एक साथ कभी नहीं हो सकते। अतएव स्वास्थ्य की रक्षा के लिए रोग-कारण को अवश्य जानना चाहिए। रोग उत्पन्न हो जाने पर भी उसको दूर करने के लिए कारण का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। जैसे धूम के कारण अग्नि और आर्द्र ईन्धन को जबतक न हटाया जावे तब तक धूम की निवृत्ति असम्भव है इसी प्रकार जब तक रोग के कारण का परित्याग न किया जावे तबतक रोगको दूर करना भी सर्वथा असम्भव ही है। कहा भी है—निदानका परिवर्जनही संक्षिप्त चिकित्सा है, अतएव सिद्ध हुआ कि आयुर्वेदके दोनों प्रयोजनोंको सफल बनाने

मपेक्ष्यते ।

नैकस्मात् कारणात् किंचित् कार्यमुत्पद्यते सततोत्पत्तिप्रसंगादेवं रोगस्यापि बहुविधानि कारणानि भवन्ति । तत्र केचिद् बाह्या हेतवो रात्रिजागरणादयो येषां सेवनात् शरीरघटकानां शरीरधारकाणां च परिस्थितिर्विपर्यस्ता भवति । ततः शारीरक्रियाणामपि वैषम्यं संजायते यत् प्रतिकूल मनुभूयते स रोग इति कथ्यते । केचिदाभ्यन्तरहेतवो

के लिए रोगों के कारण को जानना आवश्यक है ।

एक ही कारण से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । यदि ऐसा होता तो जब तक कारण है तब तक सर्वदा ही कार्य की उत्पत्ति होती । लेकिन ऐसा न होने से एक ही कारण से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी जाती । रोग की उत्पत्ति के भी अनेक कारण हैं उनमें से रात्रिजागरण आदि कुछ बाह्य कारण हैं जिनके सेवन से शरीर के घटक (उत्पादक) और धारक द्रव्यों की परिस्थिति बिगड़ जाती है । जिससे शारीरिक क्रियाओं में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है यह वैषम्य प्रतिकूलवेदनीय अर्थात् दुःखदायी होने के कारण रोग कहलाता है । रोग के कुछ आभ्यन्तर (शरीर में रहने वाले) कारण भी होते हैं जिनके वैषम्य से दुखदायी रोग उत्पन्न होता है । उन आभ्यन्तर कारणों में भी कुछ ऐसे हैं जो

षां वैषम्याद् दुःखं संजायते। तत्रापि केचिदाधिक्येन दुष्ट्य-धिष्ठानभूता दूष्यसंज्ञाभाजः, केचिच्च प्रायशः दुष्टिकर्तारो दोषसंज्ञाभाजो भवन्ति। कर्तारमन्तरेण कार्याणामिव दोष-मन्तरेण दोषजरोगाणामुत्पत्तिर्न सम्भवति। यदुक्तं 'नास्ति रोगो विना दोषैरि'ति। युक्तिरग्रे व्यक्तीभविष्यति। उत्पन्नाना-मपि रोगाणां दोषक्रमानुविधायित्वं (यथा यथा दोषवृद्धि-स्तथा तथा रोगवृद्धिर्यथा यथा दोषशान्तिस्तथा तथा रोगशान्तिरिति) दोषानुसारिणी च प्रायशो रोगाणां

प्रायशः दुष्टि के अधिष्ठान होते हैं अर्थात् दूसरे से स्वयं दुष्ट होते हैं किन्तु और किसी को प्रायशः दूषित नहीं करते। इस प्रकार के रोग-कारण को दूष्य कहते हैं। कुछ आभ्यन्तर कारण ऐसे भी हैं जो प्रायशः दुष्टिकर्ता अर्थात् दूसरे को दुष्ट करने वाले होते हैं उनको दोष कहते हैं। जैसे कर्ता न होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती ऐसे ही दोष न होने से दोषज-रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शास्त्र में भी लिखा है कि विना दोष के रोग नहीं हो सकता। इसमें युक्ति आगे लिखी जावेगी। उत्पन्न रोग भी दोषों के क्रमानुविधायी अर्थात् जैसे २ दोष बढ़ते हैं वैसे २ रोग भी बढ़ते हैं, दोष घटने से रोग की भी शान्ति होती है। रोग

चिकित्सेति दोषा एव रोगकारणेषु प्रधानतमा इति सर्वा-युर्वेदसिद्धान्तो दरीदृश्यते । यद्यपि रसवीर्यादिसंख्यादि-विषये केषाञ्चिदायुर्वेदतन्त्रकाराणां वैमत्यमासीदिति शास्त्र-दर्शनादवगम्यते, तथापि वातपित्तश्लेष्माभिधास्त्रयो दोषाः दोषजरोगजनका इति सिद्धान्ते कस्यचिदायुर्वेदतन्त्र-कारस्य मतभेदो न दृश्यते ।

वेदांशस्यानादेरायुर्वेदस्य त्रिदोषसिद्धान्ते कस्य-चित् सन्देह एव नासीत् किन्त्वधुना जडवैज्ञा-निकैः प्रत्यक्षपरैरायुर्वेदवर्णितानां वातादीनां विकृता-

---

की चिकित्सा भी प्रायः दोषानुसार की जाती है । इसलिए सब ही आयुर्वेद-ग्रन्थों में दोषों को ही रोगों का प्रधान कारण स्थिर किया है । रस-वीर्य आदि की संख्या आदि के विषय में कुछ शास्त्रकारों का मतभेद था यह बात चरक, सुश्रुत आदि शास्त्र-ग्रन्थोंसे मालूम होती है, किन्तु वात, पित्त और श्लेष्मा नामक तीन दोष ही शरीर-रोगों के जनक हैं इस सिद्धान्त में किसी भी आयुर्वेद शास्त्रकार का मतभेद मालूम नहीं पड़ता है ।

वेद ही के अंश अनादि आयुर्वेद के त्रिदोष-सिद्धान्त में किसी को सन्देह ही नहीं था किन्तु अब प्रत्यक्ष मात्र को प्रमाण

विकृतानां रोगारोग्यकारणत्वेन प्रत्यक्षं न कृतमिति तैः कुत्रचित् शारीरयन्त्राणां विकृतयः कुत्रचिच्च यन्त्रादिदृश्याः कीटाणवो रोगकारणत्वेन वर्णिताः। विजितानां भारतीयानामार्यभाषयाऽतिदुर्बोधया विरचितस्य गुरूपासनगम्यस्यायुर्वेदस्यावबोधाय स्वज्ञानविज्ञानबलगर्वितैः पाश्चात्यैर्यथोचितं यत्नमननुष्ठायैवैतस्यायुर्वेदस्यावैज्ञानिकत्वमुद्घोषितम्। परप्रत्ययनेयबुद्धयश्च केचिद् भारतीया गौरांगमहाप्रभुवचनमविचारणीयमिति मत्वाऽवैज्ञानिकपदवीलांछि-

---

मानने वाले जड़वैज्ञानिकों ने विकृत दोषों को रोगकारण और अविकृत दोषोंको आरोग्य-कारण रूपसे प्रत्यक्ष नहीं किया, इसलिए उन्होंने कहीं तो शारीरयन्त्र की विकृति को रोगकारण कह दिया और कहीं २ सूक्ष्मदर्शकयन्त्र से देखने योग्य कीटाणुओं को ही रोगकारण कह दिया है। पराजित भारतीयों के अतिदुर्बोध संस्कृतभाषा में लिखित अतएव केवल गुरु की उपासना से जानने योग्य आयुर्वेद को समझने के लिए अपने ज्ञान और बल से गर्वित पाश्चात्यों ने चेष्टा भी नहीं की अथच आयुर्वेद को अवैज्ञानिक करके घोषित भी कर दिया है। दूसरे की अक़्ल से चलने वाले भारतीय भी गौरांग महाप्रभुके वाक्य को निर्विचारणीय

तस्यायुर्वेदस्यावबोधाय समयक्षेपं निरर्थकं मत्वायुर्वेदस्या-वैज्ञानिकत्वमुद्‌घोष्य स्वसर्वज्ञत्वं प्रकाशयन्ति। आयुर्वेदा-नभिज्ञैः कारणान्तरप्रेरितैरायुर्वेदे रोगकारणत्वेन वर्णितस्य दोषत्रयस्य स्वरूपगुणादौ विप्रतिपन्नैर्यथेच्छमुच्यताम्, किंतु नलिनीदलगतजलवच्चपलेनाधुनिकवैज्ञानिकमतेन सह साम-ञ्जस्यमिच्छद्भिरायुर्वेदज्ञैरपि कैश्चित् त्रिदोषस्वरूपादिविषये वैमत्यं प्रकाशितं तेन केनचित्त्रिदोषस्य द्रव्यरूपत्वं केन-चिच्छक्तिरूपत्वं केनचित् स्थूलत्वं केनचित्सूक्ष्मत्वं केनचिदु-

ही मान कर उनसे अवैज्ञानिक माने हुए आयुर्वेद को समझने के लिए समयक्षेप करना भी निरर्थक समझकर आयुर्वेद को अवैज्ञानिक कहते हुये अपनी सर्वज्ञता को प्रकाशित करते हैं। जो लोग आयुर्वेद को नहीं जानते वे किसी दूसरे कारण से प्रेरित होकर आयुर्वेद में रोगों के कारणरूप से वर्णित त्रिदोष के विषय में सन्देह करके कुछ भी कह सकते हैं किंतु कमल पत्र पर स्थित पानी के समान चंचल आधुनिक वैज्ञानिक मत के साथ सामंजस्य करने की इच्छा रखने वाले कुछ आयुर्वेदज्ञ विद्वानों ने भी त्रिदोष के सम्बन्ध में कुछ विरुद्ध मत प्रकाशित किया है। इनमें से कोई तो त्रिदोष को द्रव्य रूप मानते हैं तो कोई शक्ति रूप मानते हैं, कोई स्थूल मानते हैं तो कोई सूक्ष्म मानते हैं और

भयरूपत्वमेवं परस्परविरुद्धमतं प्रचारितं, यद्दृष्ट्वा जिज्ञासूनां सन्दिह्यते बुद्धिः किमत्र तत्त्वमिति । तत्सर्वं संदेहजातं निराकृत्य युक्तितर्कादिसिद्धसत्यसिद्धान्तख्यापनाय सुतरामस्त्येव त्रिदोषविचारप्रयोजनमिति, दोषत्रयमेवाशेषविशेषरूपेण विचार्यते । तथाचोक्तम्—

दोषत्रयस्वरूपादौ वैमत्यं भिषजां यतः ।
तस्मात्तत्त्वावबोधाय विचार्यः सोऽधुना ध्रुवम् ॥इति॥

त्रिदोषविचारप्रयोजनाख्यः प्रथमोऽध्यायः ।

कोई स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही मानते हैं इस प्रकार अनेक परस्परविरुद्ध मत प्रचारित हुए; जिनको देख कर तत्त्व-जिज्ञासु को सन्देह होता है कि वास्तव में सत्य सिद्धान्त क्या है? उस सन्देहसमूह का निराकरण करके युक्ति-तर्कादि-सिद्ध सत्य सिद्धान्त के निश्चय करने के लिए त्रिदोषविचार का महत् प्रयोजन उपस्थित हुआ है अतएव अशेष विशेषरूप से तीनों दोषों का ही विचार किया जाता है ।

संग्रहश्लोक की व्याख्या—

क्योंकि त्रिदोष के स्वरूपादि के विषय में विद्वान् वैद्यों का भी मतभेद उत्पन्न हुआ है अतएव तत्त्व-ज्ञान के लिए त्रिदोष के स्वरूपादि का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है ।

त्रिदोषविचारप्रयोजन नामक प्रथमाध्याय समाप्त ।

द्वितीयोऽध्यायः

वातादीनां दोषत्वं, धातुत्वं, मलत्वं वा ? त्रिविधत्वमपि चेत्तद् विरुद्धमविरुद्धं वा ?

प्रागेषां धातुत्वं संस्थाप्य ततो दोषत्वं मलत्वं च प्रतिपादयिष्यामः। धारणार्थात् 'धा' धातोर्धातुरिति रूपम्, तेन धारका धातव इति समानार्थौ शब्दौ। 'धातवो देह-धारणादि'ति शास्त्रवचनाच्च देहधारकाणां धातुसंज्ञा विज्ञेया। ततो वातादीनां देहधारकत्वमस्तिनवेति परीक्ष्यते।

वातादिक दोष हैं या धातु अथवा मल ? यदि वातादिकी तीनों संज्ञा हैं तो वह विरुद्ध हैं अथवा अविरुद्ध ?

प्रथम वातादि का धातुत्व सिद्ध करके पीछे दोषत्व और मलत्त्व भी सिद्ध किया जावेगा। धारणार्थक 'धा' धातु से 'धातु' शब्द बनता है जिससे धारक (धारण करने वाला) और धातु शब्दों को समानार्थक समझा जाता है। 'शरीर को धारण करनेसे इन को धातु कहते हैं' इस शास्त्रवचन से भी शरीर के धारकों की धातुसंज्ञा समझनी चाहिए। वात, पित्त और कफ भी शरीर

तत्र गत्यर्थाद्वाधातोर्वायुर्वातो वेति संज्ञा निष्पद्यते। सर्वे हि गत्यर्थाज्ञानार्था प्राप्त्यर्थाश्चेति परिभाषाबलादयमपि 'वा' धातुर्गतिप्राप्तिज्ञानार्थानामभिधायकस्तेन गत्युत्पादकः प्राप्तिकारको ज्ञानजनकश्च वायुरित्ययमर्थो धात्वर्थबलादेवावगम्यते। गतिप्राप्तिज्ञानानां यावदस्तित्वं शरीरे तावदेव शरीरधारणं सम्भवति, गत्यादीनामुपरमे संजाते तदैव शरीरं विनश्यतीति गत्यादिकारकस्य वायोरस्त्येव धातुत्वमिति। कथं गत्यादिभिः शरीरधारणमिति चेद् उच्यते—

के धारक हैं या नहीं अब इसका विचार किया जाता है।

वायु—गत्यर्थक "वा" धातु से "वायु" वात आदि शब्द बनते हैं। व्याकरण शास्त्रकी परिभाषामें गत्यर्थकधातुका अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति समझा जाता है। इसी से गत्यर्थक 'वा' धातु भी गति, प्राप्ति, और ज्ञान इन तीनों अर्थों का बोधक है अतएव गति के उत्पादक, प्राप्ति के साधक और ज्ञान के जनक को वायु कहना चाहिए। यह अर्थ तो वायु के नाम से ही समझा जाता है। जब तक शरीर में गति, प्राप्ति और ज्ञान है तभी तक शरीर का धारण हो सकता है किन्तु गति आदि के उपरत होते ही शरीर का विनाश होजाता है अतएव गत्यादि के जनक वायुका धातुत्व सिद्ध ही है।

प्रश्न—गत्यादि से शरीर धारण कैसे होता है? उत्तर—सूक्ष्मरूप

निपुणं विचार्यमाणे जडानामपि गतिमत्त्वं विज्ञायते प्राची-नैर्जगत् संसारादिशब्दैनैतदेव विज्ञापितमाधुनिकविज्ञान-विदां परीक्षयाऽपि प्रमाणितं यदेटमाख्यसूक्ष्मावयवस्य घटकानां मध्ये केचिदिलेक्ट्रोनाख्या अणुतरावयवा नियतं गतिमन्तो भवन्ति। येषां गतिविलोपादेटमाख्यस्यास्तित्वमेव विलुप्यते। यथा सूर्यमण्डलस्य समन्तादन्ये ग्रहाः परिभ्रमन्ति कस्यचिद् ग्रहस्य गतिभंगे प्रलयः सम्पद्यत एवं केन्द्रक समन्ताद् भ्रमणशीलानामिलेक्ट्रोनसंज्ञकानां गतिभंगे

से विचार करने पर मालूम पड़ेगा कि प्रत्येक जड़पदार्थमें भी गति है इस बात को प्राचीन शास्त्रकारों ने भी "जगत संसार" आदि नामों से व्यक्त किया है। इन शब्दों का अर्थ गतिशील ही है आधुनिक वैज्ञानिकों की परीक्षा से भी सिद्ध हुआ है कि एटम (Atom) नामक सूक्ष्म अवयव के घटकों (उपादानों) में से इलेक्ट्रोन (Electron) नामक कोई सूक्ष्मतर अवयव सर्वदा गतिशील है। इन इलेक्ट्रोन् की गति बन्द हो जाने से एटम् का भी नाश हो जाता है। जिस प्रकार सूर्यमण्डल के चारों तरफ अन्यान्य ग्रह घूमते हैं और इनमें से किसी ग्रह की गति बन्द हो जाने से ही प्रलय हो जाता है ऐसे ही केन्द्रक (Nucleus) के

तत्रापि प्रलयः संजायते । अतिसूक्ष्मावयवानां स्थितिरपि गतिमन्तरेण न सम्भवतीति सर्वमेव जडं चेतनं वा प्रति नियतं गच्छतीति जगत्, संसरतीति संसारः कथ्यते । स्थूलं परीक्ष्याप्यवगम्यते यत् कोषमात्रेणारब्धस्य शुक्रकीटस्यापि सर्वथा गतिच्छेदो मरणोत्तरमेव, जीविते तु पूर्णतया गति-च्छेदो न सम्भवति । यदि शरीरधारकः कोषोऽपि गति-रहितो न स्थातुं शक्नोति का कथा स्थूलशरीरस्य । तस्य

चारों ओर भ्रमण शील इलेक्ट्रोन् की गति बन्द हो जाने से एटम का प्रलय (नाश) हो जाता है । अतिसूक्ष्म अवयव की स्थिति भी गति को छोड़ कर असम्भव है इसलिए ही तो सब ही जड़ और चेतन सर्वदा गमन करनेसे जगत और सर्वदा संसरण-शील होने से संसार नाम से कहे जाते हैं। स्थूल परीक्षा से भी जाना जाता है कि एकमात्र कोष (Cell) से उत्पन्न शुक्रकीट की गति भी उसकी मृत्यु के बाद ही सम्पूर्ण रूप से बन्द हो सकती है किन्तु जीवित शुक्रकीट की गति सम्पूर्ण रूप से बन्द नहीं हो सकती। जब स्थूल शरीर के घटक कोष की स्थिति भी गति के बिना असम्भव है तो स्थूल शरीर की बात ही क्या है। स्थूल शरीर की गति बन्द हो जाने से श्वास क्रिया, परिपाकक्रिया रससंचार-

गतिरोधे श्वास-पाक-रससंचारादिप्राणधारकक्रियाणाम-प्यवरोधात्तदानीमेव मृत्युः संजायते । एवं गतिमन्तरेण शरीर स्थितेरसम्भवत्वाद् गतिकारकस्य वायोरपि शरीरधारकत्वाद्धातुसंज्ञा सुतरामेव संगच्छते ।

ननु गतिर्न वायुकार्यं किन्तु संचालकनाडीकार्यमिति चेद्—उच्यते—नाडीरहितेऽपि कोषादौ गतिदर्शनात्, जडे च नाडीरहिते गतिदर्शनात् संचालकनाडीसहिते च रुग्णांगे

क्रिया जिसको आधुनिक मत में रक्त-संचार blood-circulation कहते हैं आदि प्राणधारक कार्य का अवरोध होकर उसी समय मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार से मालूम हुआ कि गति को छोड़ कर शरीर की स्थिति असम्भव है अतएव गतिकारक वायु की भी शरीर का धारक होने से धातुसंज्ञा सर्वथा संगत होती है।

इस पर सन्देह होता है कि गति वायु का कार्य नहीं है किन्तु संचालकनाड़ियां (Newes) ही गति कराती हैं यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस सन्देह का उत्तर यह है कि वातनाड़ी (Nerves) तो केवल स्थूल अंगों में फैली हुई है किन्तु कोष (Cell) आदि सूक्ष्म अवयवों में जहां वात नाड़ी नहीं है उनमें भी गति देखी जाती है, यदि कोषमें भी अदृश्य नाड़ीकी कल्पना की जावे तो जड़

मृतशरीरे वा गतिलोपस्य दर्शनान्नाडीभिः सह गतेरन्वयव्यतिरेकाभावाद् गतिकारणं नाड्येवेति नैव वक्तुं शक्यते केवलं स्थूलशरीरेषु वायोर्नियतमार्गेण गमनाय कार्यसौकर्याय च विद्युद्वहताम्रसूत्रवद्वातसूत्राण्याततानि दृश्यन्ते यान्यवलोक्य नीरूपं वायुं द्रष्टुमसमर्थाः प्रत्यक्षमात्रविश्वासिनो

पदार्थ जिसमें नाड़ी की कल्पना किसी प्रकार से नहीं हो सकती उसमें भी गति का प्रत्यक्ष होने से तथा संचालक नाड़ी वर्तमान रहने पर भी रुग्ण अंग में और मृत शरीर में गति का लोप प्रत्यक्ष होनेसे नाड़ी के साथ गतिका अन्वय (नाड़ी रहने पर गति का भी रहना) तथा व्यतिरेक (नाड़ी न हो तो गति का भी न होना) नहीं है इसलिए नाड़ी ही गति का कारण है ऐसा निश्चय नहीं कर सकते, क्योंकि निश्चित रूप से कार्य-कारण भाव सिद्ध करने के लिए अन्वय और व्यतिरेक का होना आवश्यक है। यहां वास्तवमें बात यह है जैसे बिजली (Electricity) को नियत मार्गसे चलानेके लिए विद्युद्वाहक तांबेके तार (Wire) को फैलाया जाता है वैसे ही वायु के लिये नियत रास्ते से चलकर अच्छी तरह से अपना कार्य करने के लिए समस्त शरीर में वात सूत्र (Newes) फैले हुए देखे जाते हैं। जिन को देख कर रूपरहित वायु को देखने में असमर्थ प्रत्यक्षमात्र विश्वासी

भ्रान्तास्तान्येव गतिकारणं मन्यन्ते किन्तु प्रत्यक्षमूलकान्वयव्यतिरेकाभ्यां वायुरेव गतिकारणं निश्चीयते।

प्राप्तिः प्रापणम्। यत्र यस्य द्रव्यस्य प्रयोजनं तत्र तद्द्रव्यं वायुरेव शरीरावयवानां संकोचनादिगतिद्वारा प्रापयति आवश्यकद्रव्याणां प्राप्तिमन्तरेण शरीरधारणपोषणादिकं न सम्भवति तदावश्यकं द्रव्यं वायुरेव यथास्थानं प्रापयति तस्मात् शरीरधारणं भवति तत एव प्राप्तिकारको वायुरपि

भ्रान्त मनुष्य उन्हीं को ही गति कारण करके समझ लेते हैं ऐसा समझना केवल भ्रममात्र है, क्योंकि प्रत्यक्ष मूलक अन्वय और व्यतिरेक से वायु को ही गति का कारण निश्चय किया जाता है।

प्राप्ति—प्रापण (मिल जाना)। जहां जिस द्रव्यकी आवश्यकता है वहां उसकी उपस्थिति को प्राप्ति कहा जाता है। शरीर के अवयवों में गति उत्पादन करके शरीर के सर्वत्र आवश्यक द्रव्यों की प्राप्ति कराना भी वायु का कार्य है। आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति न होने से शरीर के अवयवों का धारण, पोषण आदि नहीं हो सकता उन आवश्यक द्रव्यों को वायु ही यथास्थान में प्राप्त कराता है उससे शरीर का धारण होता है अतएव प्राप्ति कारक वायु भी शरीर के धारण करने वाला होने के कारण धातु

शरीरधारणाद्धातुरुच्यते।

ज्ञानमिन्द्रियार्थानामवबोधो यथा वायुना संजायते, तत् पञ्चभूतविज्ञाने वर्णितमेव।

वायुमन्तरेन्द्रियेण विषयग्रहणमेव न सम्भवतीति तत्र प्रतिपादितमेव यतो विषयग्रहणमन्तरा शरीरधारणं न सम्भवति वायुरेव च विषयग्रहणमापादयति, तस्मादपि शरीरधारको वायुर्धातुसंज्ञां लभते।

'तप संतापे' इत्यस्माद् धातोः पित्तमिति रूपं तेन

कहलाता है।

ज्ञान—ज्ञान अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियों से गन्धादि विषय का अवबोध वायु द्वारा जिस प्रकार से होता है, 'पंचभूतविज्ञान' में उसका विस्तृत वर्णन किया गया है। वायु को छोड़कर विषय—ग्रहण नहीं हो सकता इस बात को वहां सिद्ध किया है क्योंकि विषय-ग्रहण न होने से शरीर का धारण असम्भव है अतएव विषयग्रहण कराने वाला वायु भी विषय-ग्रहण-द्वारा शरीर को धारण करके धातु संज्ञा को प्राप्त करता है

"तप सन्तापे" इस 'तप' धातु से पित्त शब्द बना है, अतएव सन्ताप-जनक सम्यक् तापोत्पादक अर्थात् शरीर की रक्षा करने में।

संतापजनकः सम्यक् तापोत्पादकः शरीररक्षानुकूलतापजनकः पदार्थ आयुर्वेदे पित्तसंज्ञां लभते। दृश्यते तु तापातिवृद्ध्या तापातिहान्या वा शीघ्रमेव शरीरं विनश्यति सम्यगुत्तापाच्च शरीरस्य धारणं संजायते तस्माच्छरीरधारकतापजनकं पित्तमपि शरीरधारणाद्धातुसंज्ञां लभत इति।

ननु तापकारणं पित्तं किञ्चिन्न विज्ञायते किन्तु श्वास-परिगृहीतेन नभोऽमृतेन संसर्गात् श्वेतसारस्नेहादीनां ज्वलनरूपरासायनिकपरिवर्त्तनद्वारा तापोत्पत्तिर्भवतीति चेद्—

समर्थ, ताप का उत्पादक पदार्थ आयुर्वेदमें पित्त संज्ञाको प्राप्त करता है। देखा जाता है कि अत्यधिक ताप से (१०७° फा० से अधिक से) अथवा अत्यल्पताप से (९५° से कम से) शीघ्र ही शरीर का नाश हो जाता है किन्तु यथोचित उत्ताप से शरीर का धारण होता है अतएव शरीर के धारक ताप को उत्पन्न करने वाला पित्त भी शरीर का धारक होने से धातु संज्ञा को प्राप्त करता है।

यदि कहा जाय कि तापका उत्पादक पित्त नामसे व्यवहृत कोई द्रव्य मालूम नहीं पड़ता किन्तु श्वासवायु द्वारा परिगृहीत नभोमृत (ओक्सिजन) के संसर्ग से शरीर के अन्दर श्वेतसार, स्नेह आदि पदार्थों के ज्वलन रूप रासायनिक-परिवर्तन होने से ताप को

उच्यते—तापः खलु वह्निधर्म इति पञ्चभूतविज्ञाने प्रतिपादितम्, पञ्च भौतिकाग्नयः सप्त धात्वग्नय एकश्च जाठराग्निरिति त्रयोदशविधा अग्नयश्चरकेण ग्रहणीचिकित्सिते वर्णिताः। भुक्तद्रव्यस्य जाठराग्निना धात्वग्निभिर्भौतिकाग्निभिश्च पृथक् पृथक् पाको भवति। तत एव भुक्तद्रव्यं सर्वावयवपोषकं संजायते। य एवायुर्वेदे पाकसंज्ञयाऽभिहितः स एवार्वाचीनैः ज्वलनरासायनिकपरिवर्तनादिशब्दैरभिहित इति। आयुर्वेदे सर्वेषामेवाग्नीनां पित्तसंज्ञा प्रसिद्धा। सुश्रुतेन

उत्पत्ति होती है फिर पित्त को क्यों माना जावे? तब यह विचारना चाहिये कि—ताप अग्नि का ही धर्म है, यह बात 'पंचभूतविज्ञान' में सिद्ध की जा चुकी है। शरीर में ५ भौतिकाग्नि, ७ धात्वग्नि और एक जठराग्नि इस प्रकार तेरह प्रकार की अग्नियों का वर्णन चरकाचार्य जी ने चिकित्सा स्थान के १५ अध्याय में किया है। जठराग्नि, धात्वग्नि तथा भौतिकाग्नि से भुक्त द्रव्यों का पृथक् पृथक् पाक होता है। जिससे भुक्तद्रव्य भिन्न भिन्न रूपमें विभक्त होकर शरीर के सब ही अवयवों का पोषक बन जाता है। आयुर्वेद में जिसको पाक कहा गया है उसी को आधुनिक मतमें ज्वलन, रासायनिक परिवर्त्तन आदि नामों से कहा जाता है। आयुर्वेद में तेरह प्रकार की अग्नि को पित्त नाम से भी उल्लेख किया जाता है।

चापि "न पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यते" "न पाकः पित्तादृते" इत्यादिभिः स्पष्टवचनैरग्निपित्तयोरभेदो वर्णित इति तापजनकत्वं पित्तस्यैव सिध्यति। मन्दीभूते पित्ते तापोऽपि मन्दायते, वृद्धे च पित्ते तापोऽपि वर्धते इति पित्तेनैव तापस्यान्वयव्यतिरेकौ दृश्येते, ज्वलनक्रिया वह्निजन्या शारीरो वह्निश्च पित्तादनतिरिक्त इति, पित्तस्य संतापकारणत्वं सुतरामेव सिध्यति। पित्तसम्पर्कं विहाय केवलेन ज्वलनेन

सुश्रुत जी ने स्पष्ट लिखा है कि 'पित्त के अतिरिक्त अन्य कोई अग्नि मालूम नहीं पड़ती। पित्त के बिना पाक नहीं हो सकता।' शास्त्रकारों के इन स्पष्ट वचनों से सिद्ध होता है कि पित्त ही शरीर में ताप का जनक है। पित्त घट जाने से शरीर का ताप घट जाता है और पित्त बढ़ने से शरीर में ताप भी बढ़ता है अतएव पित्त के साथ ही ताप का अन्वय (पित्त रहने से ताप रहना) और व्यतिरेक (पित्त न रहने से ताप का न रहना) देखा जाता है। ज्वलन क्रिया वह्नि से ही होती है, शरीर में पित्त के अतिरिक्त और वह्नि भी नहीं है। अतएव पित्त ही ताप का कारण है यह बात निश्चित रूप से सिद्ध होती है। पित्त रूप में अपरिवर्तित केवलमात्र अग्नि से शरीर के रक्षक ताप की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है। अतएव पित्त ही आवश्यकता-

शरीररक्षकतापो न जन्यत इति प्रत्यक्षसिद्धमिति पित्तस्यैव यथावश्यकतापजननद्वारा शरीरधारकत्वाद्धातुत्वमपरिहार्यमेव।

श्लेष्मा—एवं 'श्लिष आलिंगने' इत्यस्माच्छ्लिष धातोः श्लेष्मेति रूपम्। आलिंगनं संयोगः। तेन संयोगसाधकः श्लेष्मेति फलितोऽर्थः। श्लेष्मणः सलिलप्रधानत्वात् स्निग्धत्वमपि अर्थादेवावगम्यते यथा शुष्का खलु मृत्तिका प्रयत्नशतेन तथा न परस्परं संयुज्यते, यथा सलिलक्लिन्ना संयुज्यत इति। एवं शरीरावयवानां संयोगसम्पादकः श्लेष्मैव

नुसार ताप को उत्पन्न करके शरीर को धारण करता है इसलिये पित्त का धातुत्व भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

श्लेष्मा—'श्लिषआलिंगने' इस धातु से श्लेष्मा शब्द बनता है। आलिंगनका अर्थ है संयोग, इसलिये संयोग के साधक को श्लेष्मा कहना चाहिये, साधारणतया यही समझा जाता है। श्लेष्माके उपादानमें जलका प्राधान्य है अतएव उसमें स्निग्धता है यह भी आसानी से समझा जाता है। जैसे सूखी मिट्टी पूरी चेष्टा से भी परस्पर इतनी संयुक्त नहीं होती जैसी जल से गीली मिट्टी संयुक्त होती है इसीप्रकार शरीर के अवयवों के परस्पर संयोग सम्पादन करने

शास्त्रकारसम्मत इति दृश्यते ।

ननु शरीरावयवानां संयोजकः श्लेष्मा कश्चिन्नोपलभ्यते दृश्यते तु पेशीस्नाय्वादिभिरेव शरीरावयवानां संयोग इति चेद्, उच्यते—नात्र शरीरावयवशब्देनास्थ्यादयः स्थूलावयवा एवावगन्तव्या यतः स्थूलानामस्थ्यादीनां पेशीस्नाय्वादिभिः संजातं संयोगं स्थूलदर्शिनोऽपि पश्यन्ति तस्मादेवायं भ्रमः । वस्तुतस्तु स्थूलानां सूक्ष्माणामतिसूक्ष्माणां कोषादीनां च परस्परसंयोगसाधको

वाला श्लेष्मा ही है, यह शास्त्रकारों का सर्वसम्मत सिद्धान्त देखा जाता है ।

इस पर सन्देह होता है कि शरीरावयवों का संयोग संम्पादक-श्लेष्मा नामक कोई पदार्थ शरीर के अन्दर नहीं देखा जाता किन्तु पेशी स्नायु आदि द्वारा ही अवयवों का संयोग प्रत्यक्षसिद्ध है फिर संयोगकारक श्लेष्मा को कैसे मान सकते हैं । इसका उत्तर यह है कि यहां शरीरावयव शब्द से केवल अस्थि आदि स्थूल अवयवों को ही नहीं समझना चाहिये क्योंकि स्थूल अस्थि आदि का संयोग पेशी आदि द्वारा होता है इसको तो स्थूलदर्शी भी देखते हैं इसीलिये यह भ्रम उत्पन्न हुआ

निर्यासवत् कश्चित् संयोजकः पदार्थो नियमेनापेक्ष्यते यमन्तरा सिक्तापिण्डवन्निःसारमस्थि चापि विशीर्येत स एव श्लेषणकर्मा श्लेष्मा विशिष्टश्लेषणद्वारा शरीरं धारयति विशिष्टश्लेषणमन्तरा शरीरस्य स्थितिरेव न सम्भवतीति श्लेष्मणश्चापि धातुत्वं सुतरामेव सिध्यति। तथाहि—

धारका ये शरीरस्य यदि ते धातवः स्मृताः।
वातपित्तकफानां तु धातुत्वं सुतरां भवेत् ॥ इति ॥

है। वास्तव में स्थूलसूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म शरीरावयव कोषादि के परस्पर संयोग करने वाला गोन्द जैसा कुछ संयोजक (जोड़ने वाला) पदार्थ एकान्त आवश्यक है जिसके बिना बालू के पिण्ड जैसा निःसार अस्थि भी शीघ्र ही विशीर्ण हो जाता है वही संयोगकारी श्लेष्मा अवयवों का संयोग उत्पन्न करके शरीर को धारण करता है। श्लेष्मा द्वारा विशिष्ट संयोग न हो तो शरीर का स्थिर रहना ही असम्भव है अतएव श्लेष्मा भी धातु है, यह अच्छी तरह से सिद्ध होता है।

जैसा कि—शरीर के धारण करने वालों को यदि धातु कहा जावे तो वात, पित्त और श्लेष्मा को भी अवश्य ही धातु कहना चाहिए।

एवं युक्तिप्रमाणैश्च सिद्धयाधातु संज्ञया।
वातादीनां तथोल्लेखो नायुर्वेदे प्रदृश्यते ॥
यथोल्लेखो भवत्येषां प्रायशो दोषसंज्ञया ॥

किमत्र कारणमिति चेद्, उच्यते–स्वमानात् परिवृद्धाः क्षीणा वा वातादयोऽशेषविशेषप्रकारेण शरीरं दूषयित्वा दुःखमुत्पादयन्तीति दोषसंज्ञा वातादीनां शास्त्रेषु प्रसिद्धा लोकेऽपि व्यवह्रियते। कथं वातादीनां दुष्टिकर्तृत्वमिति चेद्, उच्यते—शरीरे गत्यादीनां कारको वायुरेवेति प्राक् प्रतिपादितम्। स वायुर्यदि केनचित् कारणेन प्रवृद्धः सन् प्रयोज-

---

यद्यपि ऊपर लिखी हुई युक्तियों से वातादि की धातुसंज्ञा सिद्ध होती है फिर भी शास्त्र में वातादि के लिए धातु संज्ञा का इतना व्यवहार नहीं है जितना कि दोषसंज्ञा का। इसमें कारण यह है कि अपने परिमाण से प्रवृद्ध अथवा क्षीण होकर वातादि नाना प्रकार से शरीर को दुष्ट करके दुःख उत्पन्न करते हैं। इसलिए शास्त्र में इनका दोष नाम रक्खा गया है। व्यवहार भी प्रायः इसी नाम से होता है। वातादि को दुष्टिकर्त्ता क्यों माना जाता है इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है शरीर में गति-प्राप्ति आदि का करनेवाला वायु ही है।

नातिरिक्तां गतिमुत्पादयति प्राप्तिं वानावश्यकीं तदैव शरीरव्यवस्थाया विपर्ययाद्रसादीनां शरीरधारकधातूनां दुष्टिर्दुःखदायिनी संजायते। केनचित्कारणेन क्षीणेवायौ गतिप्राप्त्यादयो यथावश्यकं नोत्पद्यन्ते ततोऽपि रसादीनां दुष्टिर्दुःखदायिनी संजायते। केनचित् कारणेन प्रवृद्धे पित्ते प्रयोजनातिरिक्तस्ताप उत्पद्यते सोऽपि शरीरव्यवस्थामाकुलीकृत्य रसादीनां दुष्टिं दुःखदायिनीमुत्पादयति क्षीणे वा पित्ते यथोचितं तापं नोत्पद्यते ततोऽपि दुःखदायिनी रसादिदुष्टिः संजायते।

वह वायु यदि किसी कारण से प्रवृद्ध होकर प्रयोजन से अतिरिक्त गति अथवा अनावश्यक प्राप्तिको उत्पन्न करे तो उसी समय शरीरव्यवस्था के विकृत हो जाने से शरीरधारक रसादि धातुओं की विकृति हो जाती है जिससे दुःख उत्पन्न होता है। यदि किसी कारण से वायु क्षीण हो जावे तो भी आवश्यकतानुसार गति प्राप्ति आदि की उत्पत्ति न होने से भी शरीरधारक रसादि में विकृति हो जाती है जिससे दुःख की उत्पत्ति होती है। किसी कारण से पित्त बढ़ जावे तो वह भी प्रयोजन से अतिरिक्त ताप उत्पन्न कर देता है। वह अनावश्यक ताप भी शरीरव्यवस्था को आकुल करके रसादि धातुओं में दुष्टि उत्पन्न कर देता है जिससे दुःख भी हो

प्रवृद्धे श्लेष्मणि स्नेहादीनां जलीयगुणानामाधिक्यादपि शरीरस्थितिर्विपर्यस्ता भवति। यथावश्यकं जलीयमेव संयोगसाधकं भवति ततोऽधिकमल्पं वा जलीयं संयोगशैथिल्यमेवानयति। एवं केनचित् कारणेन प्रवृद्धः क्षीणो वा श्लेष्मा शरीरघटकानां स्थूलसूक्ष्मावयवानां संयोगशैथिल्य-

---

जाता है यदि किसी कारण से पित्त क्षीण होजावे तो भी यथोचित ताप की कमी रह जाने से दुःख देने वाली रसादि की दुष्टि हो जाती है (पित्त ही शरीर में सब चीज़ को पकाने वाला है जैसे कि यथोचित ताप न मिलने से चावल, दाल भी ठीक ठीक नहीं पक सकते वैसे हो यथोचित ताप न हो तो शरीरके अन्दर भी किसी चीज का पाक ठीक २ तरह से नहीं हो सकता और जिस चीजका पाक ठीक नहीं हुआ है वह शरीरधारक धातुमें मिल कर दुःखदायी ही हो जाती है, स्वास्थ्यकारक नहीं बन सकती है) जब किसी कारणसे शरीरमें श्लेष्मा बढ़ जाता है तब स्नेहादि जलीय गुणों की वृद्धि से शरीर की स्थिति बिगड़ जाती है। यथोचित परिमाण जलीय द्रव्य ही संयोग का साधक होता है उससे अधिक या अल्पपरिमाण जलीय द्रव्य संयोग की शिथिलता का ही कारण बन जाता है। अतएव किसी कारण से बढ़ा हुआ या घटा हुआ श्लेष्मा भी शरीर के घटक स्थूल और सूक्ष्म अवयवों

मुत्पाद्य दुःखदायिनीं रसादिदुष्टिं सम्पादयति। एवं दुष्टि-सम्पादका वातपित्तश्लेष्माणो दोषसंज्ञया शास्त्रे लोके च व्यवह्रियन्ते। वृद्धाः क्षीणा वा दोषा न केवलं धातूनेव व्याकुलयन्ति किंतु एको दोषो दोषान्तरकार्येऽपि वैषम्यमुत्पादयति। तथा चोक्तम्—

स्वमात्रातोऽधिका यस्मात् क्षीणा वा दुष्टिकारकाः।
वातपित्तकफास्तस्माद् दोषाः प्रोक्ताः महर्षिभिः॥ इति॥

प्रवृद्धाः प्रदुष्टा वा वातादयो यत्र यत्रावतिष्ठन्ते

में शिथिलता उत्पन्न करके रसादि धातुओं में ऐसी दुष्टि उत्पन्न कर देता है जिससे दुःख मालूम पड़े। इसलिये दुष्टि को उत्पन्न करने वाले वात, पित्त श्लेष्मा तीनों ही शास्त्र और लौकिक व्यवहार में दोषनाम से व्यवहृत होते हैं। अपनी मात्रा से बढ़े या घटे हुए दोष केवल धातु को ही विकृत नहीं करते किन्तु एक दोष दूसरे दोष के कार्य में भी वैषम्य उत्पन्न कर देता है। कहा जाता है कि:—

अपनी मात्रा से बढ़ा हुआ अथवा घटा हुआ वात, पित्त और श्लेष्मा दुष्टि को उत्पन्न करने वाला है इसलिये महर्षियों ने उनकी दोषसंज्ञा निश्चित की है।

कदाचित् तत्र तथा मलिनाः संजायन्ते यथा तेषां शोधनं निर्हरणं वान्तरेण दुःखकरा रोगाः संजायन्ते। किं बहुना—

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः॥

इत्यादिना श्रीमता सुश्रुताचार्येण यस्य रक्तस्यातिशयरक्षणीयत्वमुद्घोषितं तस्यैव रक्तधातोर्वातादिभिर्मलिनस्य विस्रावणीयत्वमेवोपदिष्टम्। यद् यथाकालं कायादनिर्हृतं पुरीषमूत्रादिवद्दुःखकारणं संजायते तस्यैव शास्त्रकृद्भिर्मलसंज्ञा कृता। तत्राध्मानादिकारकस्य प्रदुष्टस्य वायो-

---

मल—प्रवृद्ध या प्रदुष्ट वातादि जहां जहां अवस्थित होते हैं वहां २ कभी २ ऐसे मलिन हो जाते हैं कि उनके शोधन या निर्हरण (निकाल देना) न करने से दुःखदायी रोग होजाता है। अधिक क्या कहें—'रक्त ही देह का मूल है, रक्त से ही शरीर का धारण होता है इसलिये रक्त की रक्षा बहुत यत्न से करनी चाहिये क्योंकि रक्त ही जीवन है' इत्यादि प्रकार से जिस रक्त की प्रशंसा श्रीमान् सुश्रुत जी ने की है और जिस रक्त की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक बताया है वह रक्त भी जब वातादि दोषों से दुष्ट (मलिन) हो जाता है तो उसको भी शरीर से निकाल देने का

जठरादौ दाहादिजनकस्य प्रदुष्टस्य पित्तस्य श्वासप्रणाल्यादाववस्थितस्य कासश्वासादिकारकस्य प्रदुष्टस्य कफस्य निर्हरणमन्तरेण दुःखं न निवर्तते प्रत्युतोत्तरोत्तरं वर्धत इति वातादीनां मलत्वमपि सुतरामेव सिध्यति। तदेवोक्तम्

शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात्।
वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ॥ इति ॥

ननु येषां वातादीनां शरीरधारकत्वाद्धातुसंज्ञा तेषामेव कथं दोषसंज्ञा कथं वा मलसंज्ञा संगच्छते, तथाच—

धातूनां पालनीयत्वं दोषाणां शमनं तथा।
निर्हार्यत्वं विजानीयान्मलानामिति निश्चयः ॥

उपदेश किया है। जो यथासमय शरीर से न निकाले जाने से मलमूत्रादिवत् दुःखकारक बन जाता है शास्त्र में उसकी मल संज्ञा की गयी है आध्मान (अफारा) करने वाले अत्यन्त दुष्ट वायु जठरादि में ज्वलन उत्पन्न करने वाले अत्यन्त विकृत पित्त तथा श्वासप्रणाली फुप्फुस आदि में रह कर श्वास, कास आदि को उत्पन्न करने वाले अत्यन्त दुष्ट कफ को जब तक नहीं निकाला जाता तब तक दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती किन्तु वृद्धि ही होती है अतएव इस प्रकार वातादिकों मलसंज्ञा ही सर्वथा ठीक है

य एव पालनीयः स्यात्तस्य निर्हरणं कथम् ।
निर्हार्यं यन्मलं ज्ञेयं स कथं धातुरुच्यते ॥

इति चेद्, उच्यते—वातादीनां परिस्थितिभेदात् संज्ञाभेद इति नास्ति सन्देहावकाश इति । तथाहि—

भ्राता यः परमो बन्धुः स यदा क्रोधसंयुतः ।
बहुदुःखकरो नूनममित्रं जायते तदा ॥

शास्त्रमें भी लिखा है कि वात पित्त और कफ शरीरको दुष्ट करते हैं इसलिये दोष कहलाते हैं देहको धारण करनेसे धातु कहलाते हैं। तथा शरीरको मलिन करनेसे मल भी कहलाते हैं, प्रश्न होता है कि शरीर को धारण करने से जिन वातादि की धातुसंज्ञा होती है उन्हीं की दोषसंज्ञा और मलसंज्ञा कैसे संगत हो सकती है? श्लोकों की व्याख्या-धातु को पालन करना चाहिये, दोष को शमन करना चाहिये तथा मल को निकाल देना चाहिये ऐसा निश्चय है जो धातु होनेसे पालनीय समझा जाता है उसी को मल समझकर निकाल देने के योग्य कैसे समझा जाता है और जो निकाल देने योग्य मल है उसको धातु कैसे कहा जाता है? इस शंका का उत्तर यह है कि परिस्थिति के भेद से संज्ञाभेद होता है जिसमें सन्देह का अवकाश नहीं है। इसके लिये दृष्टान्त यह है कि जिस

सामादिभिः प्रसन्नोऽसौ पुनर्मित्रं प्रजायते ।
अत्यर्थं कुपितो भ्राता यदा भ्रातृवधोद्यतः ॥
तदा शत्रुः स आख्यातो निर्हार्यश्च विशेषतः ।
एवं वातादयो यावच्छरीरधारणे रताः ॥
धातुसंज्ञा भवेत्तावत्तेषां देहस्य धारणात् ।
विषमाः कुपितास्तेतु यदा दुःखकरा भृशम् ॥
दोषसंज्ञा तदा तेषां शमनीयाश्च ते तदा ।
अत्यर्थं विकृतास्ते तु यदा देहक्षयोद्यताः ॥

भ्राता को परम मित्र माना जाता है वह भी जब क्रुद्ध होकर बहु दुःखदायी होता है तब शत्रु जैसा बन जाता है। साम आदि से प्रसन्न होकर वही भ्राता फिर भी मित्र बन जाता है। भ्राता भी जब अत्यन्त क्रुद्ध होकर भ्रातृवध में उद्यत होता है तब वह ही सर्वथा शत्रु बन जाता है तब उस भ्राता को निकाल ही देना पड़ता है। इसी प्रकार वातादि जब तक शरीर को धारण करते रहते हैं तब तक देह धारण करने से उनकी धातुसंज्ञा होती है। जब ये वातादि विषम और कुपित होकर अत्यन्त दुःखदायी होते हैं तब उनकी दोषसंज्ञा होती है, उस समय उनको ~~शोधन~~ शमन करना भी आवश्यक होता है। जब ये अत्यन्त विकृत होकर शरीर का

यदा च शुद्धिरेतेषां नैव शक्या कथंचन ।
मलसंज्ञा तदा तेषां निर्हार्यास्ते तदा यतः ॥
नानाकार्यकरो ह्येको नानासंज्ञाधरो यथा ।
एवं त्रिविधसंज्ञैव वातादीनां सुसंगता ॥

इति वातादीनां दोषधातुमलत्वनिरूपणाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ।

नाश करना चाहते हैं अथच इनकी शुद्धि किसी प्रकार से नहीं हो सकती तब इनकी मलसंज्ञा होती है । जैसे एक ही मनुष्य नाना कार्य करके नानाविध नामों को प्राप्त करता है इसी प्रकार भिन्न २ परिस्थिति में वातादि की तीनों संज्ञाएँ सुसंगत हैं ।

वातादि के दोषत्व, धातुत्व और मलत्व निरूपण नामक
द्वितीय अध्याय समाप्त ।

तृतीयोऽध्यायः

वातादीनां दोषसंज्ञायां हेतुः—

वातादयः स्वस्वस्थानस्थाः स्वस्वमानस्थाः स्वस्वगुणवन्तश्च यावत्स्वस्वकार्यं सम्यक् सम्पादयन्ति तावच्छरीरपरिस्थितेरनाकुलत्वान्न किमपि दुःखमनुभूयते। वातादिवैषम्याद्रोगस्तेषां साम्याच्चारोग्यमिति नियमाद्वातादीनां साम्यावस्थारोग्यमभिधीयते। वातपित्तश्लेष्मणां तुल्यपरिमाणत्वं न

वातादिकी दोषसंज्ञा में हेतु—

वातादि अपने २ स्थानमें अपनी २ यथोचित मात्रामें अपने २ गुणयुक्त रहकर जब तक अपने २ कार्य को ठीक २ तरहसे सम्पन्न करते रहते हैं, तब तक शरीर को परिस्थिति ठीक रहने से किसा प्रकार दुःख अनुभव नहीं होता। वातादि की विषमतासे रोग और उनकी समता से आरोग्य होता है, इस नियम के अनुसार वातादि को साम्यावस्था को आरोग्य कहते हैं। यहां साम्यावस्था से वात, पित्त और कफ तीनों की तुल्यपरिमाणता नहीं समझनी चाहिये क्योंकि ऐसा होता तो जब तीनों दोष सम परिमाण में

साम्यमवगन्तव्यं तथासति समवर्धितदोषत्रयजन्यसन्निपातजरोगोऽपि साम्यसंज्ञामवाप्नुयात् । तस्माद्यत्र यद्गुणा यावत्परिमिता वातादयः स्वास्थ्यानुवृत्तिहेतुकाः किमपि प्रतिकूलवेदनीयं नोत्पादयन्ति तावत्तेषां शरीरधारकत्वाद्धातुसंज्ञैव संगच्छते नतु दूषकत्वाद्दोषसंज्ञा तदानीं सम्भवति कस्याप्यदूषकत्वात्, किंतु यदैव वातादयः केनचित् कारणेन प्रयोजनातिरिक्ताः प्रयोजनाल्पा वा भवन्ति तदैवैते रसरक्तादिधातूनन्यांश्च संदूष्य प्रतिकूल-

---

बढ़कर त्रिदोषज रोग को उत्पन्न करते हैं उसकी भी साम्यसंज्ञा हो सकती है, जो कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिये जबतक जिस २ गुणविशिष्ट जितने वातादि जहां रहकर स्वास्थ्य के हेतु होते हुये किसी भी प्रतिकूलवेदनीय (दुःख) को उत्पन्न नहीं करते तब तक शरीरधारण करने से उनकी धातुसंज्ञा ही सङ्गत है और दोष संज्ञा नहीं हो सकती क्योंकि दूषक अर्थात् दुष्ट करने वाले को ही दोष कहते हैं; जो किसी को दुष्ट करने वाला नहीं है उसको दोष कहना ठीक नहीं । जब किसी कारण से वातादि प्रयोजन से अतिरिक्त अथवा प्रयोजन से अल्प होते हैं तब ही ये रसरक्तादि धातुओं और अन्यान्य मलादि को

वेदनीयं दुःखमुत्पादयन्ति । रसरक्तादिधातूनामन्येषाञ्च मलादीनां दुष्टिर्वातादिमन्तरेण न सम्भवतीति सर्वेषां दूषकत्वाद् वातादीनां दोषसंज्ञा। तेन यादृश्यां परिस्थितौ दुष्टिकर्तृत्वं वातादीनामुपजायते तादृश्यां परिस्थितावेव तेषां दोषसंज्ञा प्रामाणिकी यथा सूपं कुर्वन् सूपकारसंज्ञां लभते गायन्नेव कश्चिद् गायकसंज्ञां यौगिकीं लभते तथैव दुष्टिं जनयन्त एव वातादयो दोषसंज्ञां यौगिकीं लब्धुं समर्था भवन्ति किंतु यथा सूपमकुर्वन्नपि योग्यतायुक्तः सूपकारसंज्ञां लभते

दुष्ट करके प्रतिकूलवेदनीय (दुःख) उत्पन्न करते हैं। रसरक्तादि धातुओं तथा मलादि की दुष्टि वातादिको छोड़कर अन्यथा नहीं हो सकती इसलिये सब को दुष्ट करने वाले वातादिकों की दोषसंज्ञा होती है। इससे सिद्ध होता है कि जिस परिस्थिति में वातादि दूसरे किसी को दुष्ट करते रहते हैं तब ही उनकी प्रमाणसिद्ध दोषसंज्ञा हो सकती है। जैसे कोई सूप को करते हुये यौगिक सूपकार संज्ञा को प्राप्त करते हैं अथवा गाना गाते हुये यौगिक गायकसंज्ञा को प्राप्त करते हैं वैसे ही किसी को दुष्ट करते हुये वातादि ही यौगिक दोषसंज्ञा को प्राप्त करते हैं। किन्तु जो सूप को करना जानता है वह जब सूप नहीं

यथाचागायन्नपि गायकसंज्ञां योग्यतामात्रेणैव लभते तथैव वातादीनामेव दुष्टिकर्तृत्वाद् दुष्टिमजनयन्तोऽपि योग्यतामात्रेणैव वातादयः प्रायेण दोषसंज्ञयैव व्यवह्रियन्ते। यद्यपि वातादीनामपि धातुसंज्ञा योगसिद्धा भवति इति प्राक् प्रतिपादितं तथापि रसादीनामेव धातुसंज्ञा प्रायशो व्यवह्रियते, एवं वातादीनां मलसंज्ञापि प्राक् प्रमाणीकृता किन्तु पुरीषादीनामेव प्रायेण मलसंज्ञया व्यवहार इति तेषु तेष्वर्थेषु दोष-धातु-मल-संज्ञा योगरूढा अवगन्तव्याः

बनाता है तब भी केवल योग्यतामात्र से सूपकार कहलाता है, जो गाना जानता है वह जब नहीं गाता है तब भी योग्यतामात्रसे गायक कहलाता है वैसे ही दुष्टि करने में वातादि ही समर्थ हैं इसलिये जब ये दुष्टि को नहीं करते तब भी योग्यतामात्र से ही दोष-संज्ञा से प्रायः व्यवहृत होते हैं। यद्यपि वातादि की यौगिक धातु-संज्ञा भी हो सकती है ऐसा पहिले ही सिद्ध किया है तथापि रसादि के लिये ही प्रायशः धातुसंज्ञा का व्यवहार होता है। ऐसे ही वातादिकी मल संज्ञा भी पहिले सिद्ध की गई है। किन्तु व्यवहार में मलसंज्ञा से प्रायः पुरीष आदि को समझा जाता है। इन अर्थों में दोष, धातु और मलसंज्ञा पंकजादिसंज्ञावत् योगरूढ़

तथाच—

दोषधातुमलाख्या स्याद्वातादीनां हि यौगिकी ।
व्यवहारे तु दोषाख्या वातादीनां प्रकथ्यते ॥
धातुसंज्ञा रसादीनां व्यवहारेषु मन्यते ।
पुरीषादेर्मलाख्या च व्यवहारेषु सम्मता ॥
कदाचिद् यौगिको ह्यर्थो योगरूढस्तु कर्हिचित् ।
गृह्यते व्यवहारेषु न दोषस्तत्र मन्यते ॥

इति वातादीनां दोषसंज्ञाहेतुवर्णनाख्यस्तृतीयोऽध्यायः ।

समझनी चाहिये । जैसा कि—वातादि की दोष, धातु और मल ये तीनों संज्ञाएँ यौगिक हो सकती हैं किन्तु व्यवहार में वातादि की दोषसंज्ञा, रसादि की धातुसंज्ञा तथा पुरीष आदि की मलसंज्ञा योगरूढ़ संज्ञा मानी जाती है । व्यवहार के लिये कभी यौगिक अर्थ और कहीं योगरूढ़ अर्थ को ग्रहण किया जाता है इसमें कुछ दोष नहीं समझा जाता है ।

वातादि की दोष संज्ञा के हेतु वर्णन नामक तृतीय अध्याय समाप्त ।

चतुर्थोऽध्यायः

कथं त्रय एव दोषाः—

ननु कथं वातपित्तश्लेष्मसंज्ञकानां त्रयाणामेव दोषसंज्ञाऽङ्गीक्रियते रक्तस्यापि दोषत्वं कथन्नांगीक्रियते, दृश्यते तु यूनानदेशप्रवर्तिते चिकित्सातन्त्रे रक्तस्यापि दोषसंज्ञेति। सुश्रुताचार्येणापि 'तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः सम्भवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति, भवति चात्र 'नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्। शोणितादपि वा

तीन ही दोष क्यों माने जाते है ?

प्रश्न होता है कि केवल वात, पित्त और कफ इन तीन की ही दोष-संज्ञा क्यों मानी जाती है, रक्त की भी दोष-संज्ञा क्यों नहीं मानी जाती? यूनानी चिकित्सा-शास्त्र में रक्त की भी दोष-संज्ञा मानी गई है। श्रीमान् सुश्रुतजी ने लिखा है कि—"शोणित (रक्त) जिनका चतुर्थ है ऐसे वात, पित्त और कफ से शरीर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में अविरहित (युक्त) होता है।" कहा भी जाता है कि कफ, पित्त, वायु अथवा शोणित को छोड़

नित्यं देह एतैस्तु धार्यत' इति शोणितस्यापि वातादिवच्छरीर-धारकत्वमभिहितम् । रोगवर्णनप्रसंगेऽपि वातादिजन्य-रोगवद्रक्तजरोगाणामपि वर्णनं शास्त्रेषु परिदृश्यते । द्विव्रणीयचिकित्साध्याये वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकशोणितजाना-मिव, वातशोणितजपित्तशोणितजादीनां वर्णनदर्शनाद् रक्तस्यापि वातादिवद्दोषसंज्ञा सम्भवतीति मन्यते ।

किंच व्रणप्रश्नाध्याये "दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं व्याख्या-

कर शरीर नहीं रह सकता है, क्योंकि इनसे शरीर का धारण होता है। यहां रक्त को भी वैसा ही शरीरधारक बताया है जैसा वातादि को शरीरधारक माना जाता है। रोगवर्णन प्रसंग में भी जैसे वातादिजन्य रोगों का वर्णन है वैसे रक्तज रोग का वर्णन भी शास्त्र में देखा जाता है। द्विव्रणीयचिकित्साध्याय में जैसे वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और शोणितज रोगों के वर्णन हैं वैसे ही वातरक्तज, पित्तरक्तज आदि रोगों का भी वर्णन देखा जाता है, जिससे मालूम पड़ता है कि वातादि की दोषसंज्ञा जैसे शास्त्रसम्मत है वैसे रक्त की भी दोषसंज्ञा शास्त्रसम्मत है।

और भी देखना है कि व्रणप्रश्नाध्याय में—"इसके बाद दोषों के स्थानों की व्याख्या करूँगा।" इस प्रकार प्रतिज्ञा करके

स्यामः" इति प्रतिज्ञाय वात-पित्त-कफानां स्थानानि संचय-कारणानि चाभिधाय तस्मिन्नेव प्रसंगे शोणितस्यापि स्थानादिकं वर्णयित्वा तदनन्तरमे "तानि दोषस्थानानि एषु संचीयन्ते दोषा" इत्यादि सन्दर्भेण शोणितस्य दोषत्वं स्पष्टमेव वर्णितमिति चेद् उच्यते—सुश्रुतदर्शनाद् रक्तस्य दोषत्वं कथमपि कल्पयितुं न शक्यते। कथमिति चेद् उच्यते—व्रणप्रश्नाध्यायस्य प्रारम्भ एव सुश्रुताचार्यैरुक्तं यद् "वात-पित्त-श्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवस्तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्यो-

---

वात, पित्त और कफ के स्थान और सञ्चय कारण लिख कर उसी प्रसङ्ग में रक्त के स्थानादि का वर्णन करके लिखा है कि ये सब दोषों के स्थान हैं, इनमें दोष सञ्चित होते हैं। इससे शोणित का दोषत्व स्पष्टरूप से वर्णित हुआ है अतएव रक्त को भी दोष क्यों नहीं माना जाता?

इस शंकाका उत्तर यह है कि सुश्रुत देखने से रक्त में दोषत्व की कल्पना किसी प्रकारसे भी नहीं होसकती क्योंकि व्रणप्रश्नाध्यायके प्रारम्भमें ही श्रीमान सुश्रुतजीने लिखा है कि "वात, पित्त और कफ ये तीनों शरीर की उत्पत्ति के हेतु हैं। ये तीन ही अविकृत अवस्था में अधः (निम्न), मध्य और ऊर्ध्वभाग में रहकर शरीर को

दूर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते अगारमिव स्थूणाभिस्तिस्रभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवस्तदेभिरेव शोणितचतुर्थै"रित्यादिसन्दर्भे वातादीनां यथा शरीरधारकत्वं न तथैव शोणितस्येति स्पष्टमेव गम्यते। एतदनुपदं दृष्टान्तद्वारापि वातादीनामेव शरीरधारकत्वं समर्थितम्। तथाहि—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।

इस प्रकार धारण करते हैं मानों तीन स्तम्भ गृह को धारण किये हुए हों। क्योंकि शरीर के लिये वातादि तीनों पदार्थ स्थूणा (खम्भ) के समान हैं अतएव शरीरको त्रिस्थूण भी कहते हैं। ये तीनों दोष हो व्यापन्न (अत्यन्त विकृत) होकर प्रलय (नाश) के हेतु हो जाते हैं।" इतना लिखकर पीछे लिखते हैं, कि "ये तीनों चौथे रक्त के साथ मिलकर" इत्यादि। इस सन्दर्भ में वात, पित्त और श्लेष्मा को जैसा शरीरधारक वर्णन किया है रक्त को वैसा शरीरधारक नहीं बतलाया है यह तो स्पष्ट ही है। इसके बादही दृष्टान्त से भी वात, पित्त और कफ को ही शरीरधारकरूप से वर्णन किया है कि जैसे सोम (चन्द्रमा) विसर्ग द्वारा, सूर्य आदान (ग्रहण) द्वारा और वायु विक्षेप (संचालन) द्वारा जगत को

धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥

अत्र शोणितस्य नामोल्लेखोऽपि नास्ति। दोष धातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयाध्याये सर्वत्रैव दोषादनन्तरं रसं वर्णयित्वा ततः शोणितवर्णनं कृतं तेन रक्तस्य रसादि वद्धातुत्वमेव न वातादिवद्दोषत्वमिति स्पष्टमेव विज्ञायते वातादीनां यथा स्वस्वकारणैः प्रकोपस्तथा रक्तस्य कश्चित् स्वतन्त्रः प्रकोपको न परिलक्ष्यते यदुक्तं व्रणप्रश्नाध्याये—

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति ।

धारण करते हैं वैसे ही कफ, पित्त और वायु भी विसर्ग, आदान और विक्षेप द्वारा शरीर को धारण करते हैं। यहां भी रक्तके नाम का उल्लेख नहीं किया। दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय अध्याय में सब ही स्थानों में वातादि दोषों के बाद रस धातु का वर्णन करने के अनन्तर रक्त का वर्णन किया, है इस से भी स्पष्ट मालूम होता है कि सुश्रुत जी के मतानुसार रक्त भी रसादि जैसा धातु ही है वातादि की तरह दोष नहीं है। जैसे वात, पित्त और कफ इनमेंसे प्रत्येक के अपने अपने प्रकोपक कारण हैं परन्तु रक्त के प्रकोप के लिए वैसा कोई स्वतन्त्र कारण नहीं है, व्रणप्रश्नाध्याय में लिखा भी है कि केवल पित्तप्रकोपक द्रव्य से ही अर्थात द्र

तस्मात्तस्य यथाकालं दोषं विद्यात् प्रकोपणे ॥ इति

किंच शोणितवर्णनीयेऽध्याये वातादिदुष्टशोणितानां फेनिलमरुणमित्यादिना पृथक् पृथग्वर्णनं कृतं किंतु दोषभेदविकल्पनाध्याये शोणितस्य न कृतं वर्णनमिति स्पष्टमवगम्यते रक्तस्य दोषत्वं न सुश्रुतस्याप्यभिमतमासीदिति ।

निपुणं विचार्यावगम्यते-यः खलु स्ववर्धककारणसेवनात्

स्निग्ध गुरु आहार, दिवानिद्रा आदि कारण से रक्त प्रकुपित होता है क्योंकि दोष को छोड़कर रक्त का प्रकोप कभी नहीं हो सकता अतएव जिस काल में रक्त का प्रकोप होगा उस काल के अनुसार रक्त को दुष्ट करनेवाला दोष ही समझना चाहिए । अर्थात् यदि वायु के प्रकोप के काल में रक्त का प्रकोप हो तो वायु से रक्त प्रकुपित हुआ इत्यादि प्रकार से समझना चाहिये । यहां भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि रक्त का प्रकोप होना दोष के अधीन है । और भी सोचना चाहिए कि शोणित-वर्णनीयाध्याय में तो वात-दुष्ट, पित्त-दुष्ट, और कफ-दुष्ट रक्तोंके पृथक् २ लक्षणों का उल्लेख है किन्तु दोषभेदविकल्पाध्याय में रक्त का वर्णन नहीं है इससे भी स्पष्ट मालूम होता है कि आचार्य सुश्रुतजी रक्तको दोष नहीं मानते थे ।

स्वाशये संचितः सन् स्वप्रकोपकसेवनात् प्रकुपितः स्वस्थानात् प्रसृतः किंचिद्विशिष्टं स्थानमासाद्य नानात्मजं (आत्मनो जायते यः स आत्मजस्तादृशो न भवतीत्यनात्मजस्तादृशो न भवतीति नानात्मजः केवलं तद्दोषजन्य इतिनिष्कर्षः) साधारणं वा व्याधिं जनयति स एव दुष्टिकर्ता दोषसंज्ञाभाग् भवति। रक्तन्तु नैवंविधं यस्माद्दोष-

---

ध्यान से विचारने पर मालूम पड़ता है कि जो अपने अपने वर्धक कारणों के सेवन से अपने अपने आशय में संचित होकर अपने २ प्रकोपक कारण से प्रकुपित होता है और अपने २ आश्रय से प्रसृत होकर (चलकर) किसी विशिष्ट स्थान पर पहुँच नानात्मज (अपनेसे उत्पन्न होनेवाले को आत्मज कहते हैं जो आत्मज नहीं है उसको अनात्मज और जो अनात्मज नहीं हो सकता है उसको नानात्मज कहते हैं अतएव जो रोग केवल वायु से ही उत्पन्न हो सकता है पित्तादि से नहीं उसको वात नानात्मज कहते हैं वैसे ही पित्तादि नानात्मज भी समझना चाहिये)। अथवा साधारण (पृथक् पृथक् अथवा मिलित तीनों दोष से जो रोग होता है उसको साधारण कहते हैं) रोग को उत्पन्न करता है वह ही दुष्टि का कर्ता होने से दोष कह

संज्ञां भजेदिति । तथापि शल्यतन्त्रवर्णितेषु केषुचिद् रोगेषु दूष्यस्यापि रक्तस्य संशमनीयत्वशोधनीयत्वादिरूपेण चिकित्सोपयोगिरोगज्ञाने प्रधानत्वा "दुभयोः स्थाने यो निष्पद्यते स लभतेऽन्यतरव्यपदेशमिति" नियमाद्रक्तार्श-आदिरोगसंज्ञां लभते । केवलमेतावन्मात्रेण यदि दोषसंज्ञा

लाता है। रक्त इस प्रकार नहीं है जिससे वह भी दोषसंज्ञा को प्राप्त कर सके, फिर भी शल्यतन्त्र में वर्णित रोगों में से किसी २ रोग में वास्तव में दूष्य (दोष नहीं) रक्त को भी संशमनीय, संशोधनीय आदि रूप में जानना चिकित्सा के लिए आवश्यक है अर्थात् उन रोगों में चिकित्सोपयोगी ज्ञान के लिए रक्त को भी अच्छी तरह से जानना चाहिए। एक नियम यह भी है कि दो कारण से जो उत्पन्न होता है वह उन दोनों कारणों में जहां जो प्रधान कारण है उसके अनुसार नामधारण करता है, जैसे पिता माता से उत्पन्न पुत्र कहीं पिता के नाम से, कहीं माता के नाम से परिचित होता है ऐसे ही दोष और दूष्योंके विशिष्ट मिलनसे उत्पन्न होने वाला रोग भी कहीं तो दोष के अनुसार नामधारण करता है, जैसे वातिकज्वर, पैत्तिक अतिसार आदि। कहीं कहीं दूष्य के नामानुसार भी नामधारण करता है जैसे अन्त्रवृद्धि, शुक्रमेह आदि। इस नियम के अनुसार ही जिस रोग में चिकित्सोपयोगी

स्वीक्रियते तर्हि मूत्रवृद्धिमेदोजगलगण्डशुक्राश्मर्यादिसंज्ञा दर्शनान्मूत्रमेदःशुक्रादीनामपि दोषसंज्ञा वाच्येति भाव्यमेव। यूनानदेशीयचिकित्सातन्त्रे श्रूयते यदाहारदुष्परिणाम-जन्यं सौदा सफरा बलगमाभिधेयं मलत्रयमुत्पद्यते सम्यक् परिणामजन्यं च रक्तमिति। तस्मादपि भुक्तप्रसादभागस्य रक्तस्य न तावद्रोगकर्तृत्वं सम्भवति यावदेतत्केनचिन्मलेन

ज्ञान के लिये दूष्य रक्त की प्रधानता है वहां रक्त के अनुसार हो रक्तार्श आदि नाम रखा गया है। केवल इतने से ही यदि रक्त को दोष कहा जावे तो मूत्रवृद्धि मेदोजगलगण्ड शुक्राश्मरी आदि नाम को देखकर मूत्र मेद शुक्र आदि को भी दोष कहना चाहिए इसको भी सोचना चाहिये।

यूनानी चिकित्साशास्त्र में भी वर्णित है कि भुक्तद्रव्यों के दुष्परिणाम से अर्थात् जले हुये अंश से सौदा, अधकच्चे अधपके अंश से सफरा और ऊपर के झाग जैसे अंश से बलगम बनता है और भुक्तद्रव्यका जो अंश ठीक २ पक जाता है उस से खून (रक्त) बनता है इससे भी सिद्ध होता है कि भुक्तद्रव्यों के प्रसाद (निर्मल) भाग से उत्पन्न होने वाला रक्त जब तक किसी दोष के साथ मिलकर मलिन नहीं होता है, तब तक वह किसी रोग

युक्तं सन्मलिनं न संजायते। किंच यथायुर्वेदे शल्यतन्त्रोपदिष्टेषु केषुचिद्रोगेषु रक्तस्य प्राधान्यमिति तत्र रक्तजरोगाणां वर्णनं दृश्यते किंतु वातादिवद्रक्तस्य सर्वसाधारणरोगकर्तृत्वं नास्तीति कायचिकित्साप्रधानेषु तन्त्रेषु रक्तस्य प्राधान्यं वर्णितं न दृश्यते। तथैव यूनानीयतन्त्रे केषुचिदेव रोगेषु रक्तस्य प्राधान्यं वर्णितं नतु रक्तस्य सर्वरोगजनकत्वमिति। तस्मान्मन्यते यथा सुश्रुतं दृष्ट्वा केषांचिद्रक्ते दोषभ्रमोऽधुनापि दृश्यते तथैव चरकसुश्रुताद्यनुवादभूते

का उत्पादक नहीं हो सकता है। और भी देखना है कि जैसे आयुर्वेद के शल्यतन्त्र में उपदिष्ट रोगों में से किसी किसी रोग में रक्त का भी प्राधान्य है इसलिये उसमें रक्तज रोग का वर्णन है किन्तु वातादि दोष जैसे सब ही साधारण रोगों को कर सकते हैं, रक्त ऐसा नहीं कर सकता। अतएव कायचिकित्साप्रधान-तन्त्र में रक्त का प्राधान्य वर्णित नहीं हुआ है। ऐसे ही यूनानीय चिकित्सा-तन्त्र में भी कुछ ही रोगों के लिये रक्त को कारण माना गया है, सब ही रोग के लिये नहीं। (जैसे श्वासादि अनेक रोग हैं जो रक्तज नहीं होते हैं) इससे समझा जाता है कि जैसे सुश्रुत को देख कर अब भी

यूनानीयतन्त्रे कस्यचिदनुवादकस्य भ्रमवशादेव रक्तस्य दोषसंज्ञा संजातेति।

किंच वातपित्तकफानां यथा प्रकृतिजनकत्वं शास्त्रेषु वर्णितं दृश्यते, वातादिप्रकृतीनां लक्षणान्यपि यथा तत्तत्प्रकृतिपुरुषेषु व्यक्तमुपलभ्यन्ते न तथा रक्तजन्या काचित् प्रकृतिर्वर्णिता दृश्यते "आधानसमये यस्य यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन" त्यादि प्रकृति-

---

कोई २ भ्रम में पड़ता है कि रक्त भी दोष होगा ऐसे ही चरक सुश्रुतादि के अनुवाद से पुष्ट यूनानी-तन्त्र में भी किसी अनुवादक के भ्रम से रक्त की दोष संज्ञा पड़ गयी होगी।

और भी देखना है कि जैसे वात, पित्त और कफ को शरीर में प्रकृतिजनक कहा है तथा शास्त्र में वात-प्रकृति, पित्त-प्रकृति और श्लेष्म-प्रकृति के जो लक्षण बताये हैं वे लक्षण वातादि प्रकृति वालों में स्पष्ट रूप से मालूम भी पड़ते हैं। इस प्रकार रक्त से उत्पन्न होने वाली किसी प्रकृति का वर्णन शास्त्र में नहीं है। सुश्रुत-संहिता में प्रकृति के वर्णन में लिखा है कि "गर्भाधान के समय में गर्भ के उपादानभूत शुक्र और शोणित (स्त्रीबीज) में जो दोष उत्कट रहता है उससे प्रकृति बनती है।

लक्षणे प्रकृतीनां दोषजन्यताभिहिता। रक्तस्य दोषत्वे तज्जन्या प्रकृतिरपि स्यादेव सा तु न दृश्यते इति नास्ति दोषत्वं शोणितस्य वातपित्तकफेतरस्यान्यस्य वा कस्यचिदिति वातपित्तकफा एव दोषा इति। यदुक्तं—

वातः पित्तं कफश्चेति शारीरदोषसंग्रहः।

तथा वातः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः॥ इति नन्वत्र संग्रह-समास-शब्दप्रयोगादन्येऽपि दोषाः

किसी द्रव्य के उपादान में अच्छी बुरी कुछ चीज मिला दी जावे तो उसका प्रभाव सारे द्रव्य पर ही पड़ता है अतएव शरीर के आरम्भक बीज में जो दोष उत्कट होगा वह दोष सारे शरीर में तब तक रहेगा जब तक शरीर का अस्तित्व है। ऐसे शरीरारम्भक दोष को प्रकृति कहते हैं। जो जो दोष हैं उनसे प्रकृति भी उत्पन्न होती है, यदि रक्त भी दोष होता तो रक्त से भी प्रकृति उत्पन्न होनी चाहिये थी किन्तु वातादि प्रकृति जैसी प्रत्यक्ष हैं रक्तजन्या प्रकृति ऐसी नहीं देखी जाती है क्योंकि केवल वातादि तीन दोष से ही प्रकृति बनती है रक्त अथवा अन्य किसी से प्रकृति नहीं बनती है अतः सिद्ध होता है कि वात, पित्त और कफ ये तीन ही दोष हैं।

कल्पयितुं शक्यन्ते इति चेद् । उच्यते—उद्देशो निर्देशः परीक्षेति वर्णनशैली प्राचीनानाम् । तत्र समासकथनमुद्देशो नाममात्रकथनमिति तदर्थः ।

उद्दिष्टानां विस्तरवचनं निर्देशो, निर्दिष्टानां परीक्षा वर्ण्यते । अत्राऽपि वातादीनां नाममात्रोल्लेखेनोद्देशः कृत इति ज्ञापयितुं संग्रह-समास-शब्द प्रयोगः। उद्दिष्टानामे-

---

और एक सन्देह किया जाता है कि–"वातः पित्त और कफ यह शारीर दोषों का संग्रह (संक्षेप से निर्देश) है", तथा "वात, पित्त और कफ संक्षेपसे ये तीन दोष कहलाते हैं" इसप्रकार शास्त्रों में संक्षेप के समानार्थक संग्रह और समास शब्द का प्रयोग देखा जाता है जिससे कल्पना कर सकते हैं कि यद्यपि संक्षेप से ये तीन ही दोष हैं किन्तु विस्तार वचन से और भी किसी दोष का होना असम्भव नहीं है। इस सन्देह का समाधान यह है कि किसी पदार्थ के यथोचित वर्णन के लिये प्रथम उद्देश करके निर्देश किया जाता है और निर्देश के पश्चात् परीक्षा की जाती है, इस प्रकार प्राचीन शास्त्रकारों की वर्णनशैली है। इसमें समास कथन को उद्देश कहते हैं अर्थात वर्णनीय विषय के नाममात्र के उल्लेख को उद्देश कहते हैं और जिनका उद्देश किया गया है उनके विस्तृत वर्णन को निर्देश कहा जाता है और

तेषां वातादीनां सामत्वनिरामत्वादिविशेषवचनं निर्देशो भविष्यतीति शास्त्रकाराभिप्रायो बोद्धव्यः। अनुद्दिष्टानां निर्देशो न सम्भवति। तस्माद् यदि वातादिभिन्नः कश्चिद्दोषः स्यात्तस्याप्युद्देशः कार्य आसीदिति तदभावात्त्रय एव दोषा इति। तथाहि—

शरीरे जायमानानां क्रियादीनां प्रवर्तकः।
प्रकृतिं जनयेद् यस्तु विषमो रोगकारकः।

जिनका निर्देश (विस्तृत वर्णन) हुआ है उनकी परीक्षा की वर्णना की जाती है। यहां भी वात, पित्त और कफ के नाममात्र का उल्लेख करके उद्देश किया गया है, इसको समझाने के लिये संग्रह और समास शब्द का प्रयोग किया गया है। जिन वातादि का उद्देश हुआ है उनका सामत्व निरामत्वादि विस्तृत वर्णन रूप निर्देश भी आगे किया जावेगा, शास्त्रकारों के ऐसे अभिप्राय समझने चाहिये। जिसका उद्देश नहीं हुआ है उसका निर्देश भी नहीं हो सकता है, अतः यदि वात, पित्त और कफ के अतिरिक्त और भी कोई दोष हो। तो उसका भी उद्देश करना चाहिये था। जबकि तीन दोषों के अतिरिक्त और किसी दोष का उद्देश नहीं हुआ, इसलिये तीन ही दोष हैं। कहा भी जाता है

समः संजनयेत् स्वास्थ्यं स दोषः परिकीर्त्यते ॥
वातपित्तकफा ज्ञेयाः एवंलक्षणलक्षिताः ।
तस्मादेते त्रयो दोषा चतुर्थो नास्ति कश्चन ॥

इति दोषाणां त्रित्वसमर्थनाख्यश्चतुर्थोऽध्यायः ।

कि शरीर में उत्पन्न होने वाली सब क्रियादि का जो जनक है, जो प्रकृति का आरम्भक है, और जो विषम होकर रोग का जनक होता है और समता में रहकर स्वास्थ्य को ठीक रखता है, वह ही दोष है। यह लक्षण वात,पित्त और कफ तीनोंमें ही ठीक ठीक लगता है अतः ये तीन ही दोष हैं, चौथा कोई दोष नहीं हो सकता है।

दोषों का त्रित्वसमर्थन नामक चतुर्थ-अध्याय समाप्त ।

पंचमोऽध्यायः

वातादीनां द्रव्यरूपत्वं शक्तिरूपत्वं वा ?

वातादीनां शक्तिरूपत्वमायुर्वेदे कुत्रचिन्न वर्णितं किंतु 'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः' इत्यादि रूपेणायुर्वेदवर्णितास्त्रयो दोषा आधुनिकवैज्ञानिकैर्विविधयन्त्रादिसाधनसम्पन्नैरपि प्रत्यक्षीकर्त्तुं न शक्यन्तेऽतो वातादयः प्राचीनानां

वातादि द्रव्य स्वरूपहैं अथवा शक्तिस्वरूप हैं—

आयुर्वेदमें कहीं भी वात,पित्त और कफ़को शक्ति रूपसे वर्णन नहीं किया गया है। आयुर्वेद में वातादि के वर्णन में लिखा गया है कि वातादि तीनों दोष सारे शरीर में व्यापक हैं फिर भी पक्वाशय (वृहदन्त्र) वस्ति आदि में वायु, पच्यमानाशय (क्षुद्रान्त्र) ग्रहणी, अग्न्याशय आदि में पित्त और आमाशय हृदयादि में कफ़ विशेष रूप से रहता है किन्तु आयुर्वेद वर्णित इन स्थानों में वातादि को प्रत्यक्ष करने के लिये नानाविधयन्त्रादि साधन सम्पन्न वैज्ञानिक बहु प्रकार चेष्टा करके भी

भ्रममात्रकल्पिता नात्र किञ्चित् सत्यमस्तीति तस्मादायुर्वेदस्तम्भभूतानां वातादीनामलीकत्वे सिद्धे सिध्यत्यायुर्वेदस्याप्यवैज्ञानिकत्वमिति सगर्वमुद्घोषयन्त्याधुनिकवैज्ञानिकानुचराः। तच्छ्रुत्वा केचन दुर्बलचित्ता भिषजो वातादीनां शक्तिरूपत्वमुद्घोष्य प्रतिपादयितुमिच्छन्ति यच्छक्तिरूपत्वादेव वातादीनां प्रत्यक्षं न भवतीति। किंतु भिषग्भिस्तैरवगन्तव्यं यद् वातादीनां शक्तिरूपताकथनादेव वैज्ञानिकानां तुष्टिर्न

वातादिका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। इसलिए कहते हैं कि प्राचीनों के पास यन्त्रादि साधन न होने के कारण सूक्ष्म पदार्थों को प्रत्यक्ष करना तो उनके लिए असम्भव था केवल भ्रमवश होकर उन्होंने वातादि की कल्पना की थी इसमें सत्य कुछ भी नहीं है। क्योंकि आयुर्वेद के स्तम्भ-भूत त्रिदोष ही अलीक हैं तो आयुर्वेद भी सर्वथा अवैज्ञानिक है, आधुनिक वैज्ञानिक इसप्रकार गर्वोक्ति करते हैं। इनकी इन बातों से भीत होकर कुछ दुर्बलचित्त वैद्य कहते हैं कि वातादि वास्तव में शक्तिस्वरूप हैं, द्रव्यस्वरूप नहीं क्योंकि शक्ति का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता किन्तु कार्य से सर्वदा उसका अनुमान किया जाता है इसीप्रकार वातादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि उनके कार्यको देखकर उनका भी अनुमान किया

भविष्यति, आर्षशास्त्रविरोधश्चापद्येत यतो निराश्रया शक्तिर्न स्थातुं शक्नोतीति शक्तिरूपत्वे वातादीनां तेषामाश्रयभूतं किंचिद्द्रव्यमपि वाच्यमेव, यथा दाहकशक्तेराश्रयभूतो वह्निरिति यथा वा पोषणशक्तेराधारभूतमन्नमिति। स्वीकृते च शक्त्याधारभूते द्रव्ये कर्तृत्वमपि द्रव्यस्यैव कथ्यते यथाऽग्निर्दहति पोषयत्यन्नमिति। यथा दाहिका शक्तिर्दहति,

---

जाता है। इस प्रकार कहने वाले वैद्यों को समझना चाहिये कि वातादि को शक्ति कह देनेसे ही वैज्ञानिकों की तृप्ति तो होगी नहीं किन्तु आर्ष शास्त्र से भी विरोध हो जावेगा। क्योंकि किसी द्रव्य को आश्रय न करके शक्ति नहीं रह सकती अतः वातादि यदि शक्ति हैं तो उनका आश्रय कुछ द्रव्य भी अवश्य ही मानना पड़ेगा। जैसे दाहिका शक्ति का आश्रय अग्नि है, पोषण शक्ति का आश्रय अन्न है, ऐसे ही वातादि यदि शक्ति हैं तो उनका आश्रयभूत कुछ द्रव्य स्वीकार करना ही पड़ेगा। शक्ति के आश्रय द्रव्य को स्वीकार करने के बाद क्रिया का कर्तृत्व भी उस द्रव्य में ही मानना पड़ेगा, जैसे कहा जाता है कि अग्नि दग्ध करती है, अन्न पोषण करता है। जैसे अग्नि दग्ध करती है इसके स्थान पर दाहिका शक्ति दग्ध करती है ऐसा प्रयोग नहीं होता, अन्न

पोषणशक्तिः पोषयतीत्यादि प्रयोगो न दृश्यते तथैव वातादीनां शक्तिरूपत्वे वायुः शोषयति, पित्तं पचति, श्लेष्मा गौरवमादधातीत्यादयो न भवितुमर्हन्ति प्रयोगाः, किंतु येषां शक्तिभूता वातादयस्तेषामेव कर्तृत्वं वाच्यं स्यादिति। किंच वातादीनां द्रव्यस्वरूपत्वे रूक्षतादयो वातगुणा उष्णत्वादयः पित्तगुणाः, स्निग्धत्वादयः कफगुणाः शास्त्रवर्णिताः सर्व एव सम्भवन्ति, किंतु शक्तिरूपत्वे वातादीनां शास्त्रोक्ता गुणा नैव सम्भवन्ति नहि कदाचिच्छक्तिरपि रूक्षा

पोषण करता है इसके स्थान पर पोषण शक्ति पोषण करती है ऐसा प्रयोग नहीं होता, ऐसे ही यदि वातादि को शक्तिस्वरूप माना जाये तो वायुशोषण करती है, पित्त पकाता है श्लेष्मा गौरवको उत्पन्न करता है इस प्रकार प्रयोग नहीं हो सकता था, किन्तु ये वातादि जिनकी शक्ति हैं उनके कर्तृत्वका उल्लेख करना पड़ता। और भी सोचना है कि वायु के रूक्षतादि गुण, पित्त के उष्णतादि गुण और कफ के स्निग्धतादि गुण शास्त्र में वर्णित हुये हैं। यदि वातादि द्रव्य स्वरूप हैं, तो उनमें इन गुणों का रहना तो सर्वथा सम्भव है किन्तु वातादि यदि शक्ति रूप हैं तो उनमें रूक्षतादि गुणों की कल्पना भी नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति कभी रूक्ष

स्निग्धा वा भवति। किंच शास्त्रेषु पित्तकफयोरञ्जलि-संख्यया परिमाणवर्णनमपि दृश्यते। नहि कश्चिदंजलि-द्वारा शक्तिमपि परिमातुं शक्नोति, तस्माद्वातादीनां शक्ति-रूपत्वकथनं युक्तितर्कशास्त्रविरुद्धमेव। शक्तिप्रधानस्य द्रव्यस्य शक्तिरूपत्वं यदि शास्त्रादिविरुद्धं कल्पयितुमिष्यते तर्हि रक्तशुक्रादिप्रत्यक्षद्रव्याणामपि शक्तिरूपत्वं वाच्य-मेव। एक एव शुक्रकीटो यदि शरीरस्य सर्वावयवानन्त-र्ग्रहीतुं शक्नोति तथाविधशक्तिशालिनः कथं न शक्ति-

अथवा स्निग्ध नहीं हो सकती है। और भी विचार करना है कि चरकादि आर्ष ग्रन्थों में पित्त और कफ का तो अञ्जलियों से परि-माण भी लिखा है लेकिन शक्ति को कोई भी अञ्जलि से नाप नहीं सकता इसलिये वातादि को शक्ति कह देना युक्ति, तर्क और शास्त्र विरुद्ध है। यदि शक्तिप्रधान द्रव्य को शक्ति कहने की इच्छा है, जो वास्तवमें शास्त्रविरुद्ध है, तो रक्त शुक्र आदि शक्ति-प्रधान प्रत्यक्ष द्रव्य को भी शक्ति ही कहना पड़ेगा। एकमात्र शुक्र कीट (Spermatozoon) जो केवल चक्षुसे प्रत्यक्षभी नहीं होता शरीर के सब अवयवों को अपने अन्दर धारण कर सकता है। इतने शक्तिशाली द्रव्य को शक्ति नहीं कहा जावेगा

संज्ञेति वाच्यम्। किञ्च चिकित्सासूत्रे पित्तादीनां विरेचनादिभिर्निर्हरणमभिहितं किन्तु तेषां शक्तिरूपत्वे तदाधारनिर्हरणमन्तरेण तेषां निर्हरणं न सम्भवति। अपरंच, शक्तिप्रधानस्य द्रव्यस्य यदि केनचिदायुर्वैघृतमित्यादिवच्छक्तिस्वरूपत्वमुपचर्यते न तेनैवोपचारेण द्रव्यमपि शक्तिस्वरूपं भवतीति। न कदाचिदुपचारेण वस्तुस्वरूपं परिवर्तते अतएवोक्तम्—

द्रव्यत्वमनिलादीनां शास्त्रकारैः प्रकीर्तितम्।

इसका भी कारण बताना पड़ेगा। और भी विचारना है कि चिकित्सासूत्र में विरेचनादि द्वारा पित्तादि दोषों को निकाल देने का उपदेश है किन्तु दोष यदि शक्तिस्वरूप हैं तो उनके आधार को न निकाल कर केवल दोष को निकालना असम्भव हो जाता है। सब से बड़ी विचारणीय बात तो यह है कि घृत आयुवर्धकों में श्रेष्ठ है, इसलिये "आयुर्वै घृतम्" (घृत आयु ही है) ऐसा समझकर यदि घृतमें आयु का उपचार कोई कर भी देवे, तो घृत और आयु वास्तवमें अभिन्न नहीं होजाते हैं। इसी प्रकार यदि शक्तिप्रधान वातादि को कोई शक्ति करके उपचार करे तो ऐसे उपचार से द्रव्य कभी वास्तव में शक्तिस्वरूप नहीं बन जाता

शक्तिरूपत्वमेतेषां प्रमाणेन न सिध्यति ॥
द्रव्याणां नहि सर्वेषां प्रत्यक्षं सर्वदा भवेत् ।
वैज्ञानिकान्न भेतव्यं भिषग्भिः शास्त्रतत्परैः । इति

इति वातादीनां द्रव्यत्वनिरूपणाख्यः पञ्चमोऽध्यायः ।

क्योंकि किसी के उपचार से वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन नहीं हो सकता है। अतः कहा जाता है कि वातादि का द्रव्यत्व ही शास्त्रकारों ने वर्णन किया है उनको शक्ति करके मिथ्या कल्पना करना प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। द्रव्य होने से ही सबको सर्वदा प्रत्यक्ष नहीं होता है। शास्त्रतत्पर वैद्यों को चाहिये कि वैज्ञानिकों से डरकर शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन न करें।

वातादि का द्रव्यत्व निरूपणाख्य पञ्चम-अध्याय समाप्त ।

षष्ठोऽध्यायः

वातादीनां स्थूलत्वं सूक्ष्मत्वमुभयत्वं वा—

केचिदपानादिरूपेण निर्गच्छन्तं वायुमेव वातदोषं, वमनादिद्वारा वहिर्निर्गच्छन्नीलहारिदादिद्रव्यमेव पित्तदोषं कासादिद्वारा वहिर्निर्गच्छन्तं श्लेष्माणमेव कफदोषं मन्यन्ते तेषां मते स्थूलमेतत्पदार्थत्रयमेव शरीरस्थं शरीरान्निर्गच्छद्वा वातादिदोषसंज्ञां लभत इति सिद्धान्तः। अपरे पुनर्मन्यन्ते—

वातादि दोष स्थूल, सूक्ष्म अथवा उभयरूप हैं—

कोई तो अधोवायुरूप से निर्गत होने वाले अथवा उद्गाररूपसे निर्गत होनेवाले वायुको ही वातदोष समझते हैं। वमनादि द्वारा निकलने वाले नोले, हरे द्रव्य को ही पित्त दोष मानते हैं तथा खांसी आदि से निकलने वाले श्लेष्मा को ही कफ दोष समझते हैं। इनके मत में शरीर के अन्दर रहने वाले अथवा शरीर से बाहर निकलते हुए ये तीन स्थूल द्रव्य ही वात पित्त और कफ नामक त्रिदोष संज्ञाको प्राप्त करते हैं ऐसा सिद्धांत माना जाता है। किसी २ का मत यह है कि शरीर से जो वायु पित्त और

शरीरान्निर्गमनशीलानां वातादीनां शरीरधारकत्वं नास्ति किन्तु ते यदि यथाकालं न निर्गच्छन्ति ततो दुःखमेव जनयन्ति तस्मात् ते मलसंज्ञाभाज एव न तु धातवो न वा दोषा इति । शरीरधारकाः सर्वशरीरचरा वातादयो रोगावस्थायामारोग्यावस्थायां वा शरीरव्यवच्छेदादिना जीवितशरीरे न दृश्यन्ते न वा मृतशरीरे दृश्यन्ते तस्मात्ते

कफ बाहर निकलते हैं उनमें शरीर को धारण करने की शक्ति नहीं है, वरन् वे यदि यथासमय शरीर से नहीं निकलते तो नाना प्रकार से दु:ख को ही उत्पन्न करते हैं अतः इनको मल कहना चाहिये, धातु या दोष नाम से इनको समझना ठीक नहीं है । जिन वात, पित्त और कफ को शरीरधारक तथा सर्वशरीरचर कहा जाता है वे रोगावस्था में अथवा आरोग्यावस्था में शरीर के व्यवच्छेद (Dissection) आदि द्वारा कभी जीवित शरीर में नहीं देखे जाते हैं, नहीं मृत शरीर में देखे जाते हैं । इससे कहना पड़ेगा कि वे अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष होने के अयोग्य हैं इसलिये शरीर के व्यवच्छेदादि द्वारा नहीं देखे जाते हैं। इस प्रकार कहने वालों का सिद्धान्त यह है कि जो द्रव्य सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष होने के अयोग्य हैं उनका प्रत्यक्ष न होने से

सूक्ष्मत्वात्प्रत्यक्षायोग्याः, अतएव शरीरव्यवच्छेदादिना न दृश्यन्ते सूक्ष्मत्वात्प्रत्यक्षायोग्यानामप्रत्यक्षेऽपि नाभावसिद्धिरिति ते सिद्धान्तयन्ति। केचिन्मन्यन्ते वातादीनां स्थूलत्वं सूक्ष्मत्वं च तस्मादाध्मानाम्लपित्तकासादिकारकाः स्थूला वातपित्तकफाः प्रत्यक्षमेव दृश्यन्ते किन्तु यत्र वातादयो न दृश्यन्ते तेषां कार्याणि च प्रत्यक्षयोग्यानि तत्र कार्यदर्शनात् कारणभूता वातादयः सूक्ष्मा अप्यनुमानेन ज्ञातुं शक्यन्ते। एतन्मते वातादयः स्थूलाः सूक्ष्माश्च तत्र स्थूलाः

भी अभाव सिद्ध नहीं होता।

एक सम्प्रदाय का मत यह है कि वायु पित्त और कफ स्थूल भी है और सूक्ष्म भी हैं। आध्मान (अफारा) आदि करने वाला वायु, अम्लपित्तादि रोग को उत्पन्न करने वाला पित्त तथा कास आदि को उत्पन्न करने वाला कफ तो स्थूल होने से प्रत्यक्षसिद्ध ही है किन्तु जहां वातादि प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हैं और उन का कार्य प्रत्यक्षसिद्ध है वहां भी कार्य को देख कर उन कार्य के कारणभूत सूक्ष्म वातादि को अनुमान से जान सकते हैं। इस मत में वातादि स्थूल भी हैं और सूक्ष्म भी हैं उनमें से स्थूल को तो प्रत्यक्ष ही किया जाता है किन्तु

प्रत्यक्षमेव ज्ञायन्ते सूक्ष्माः खलु प्रत्यक्षायोग्यास्तस्मादनुमीयन्ते। केचिद् वदन्ति वातस्य रूपरहितस्य प्रत्यक्षायोग्यत्वात् सूक्ष्म एव वायुर्नास्य स्थूलत्वं प्रमाणसिद्धम्, किन्तु पित्तकफयोः प्रत्यक्षयोग्ययोः स्थूलत्वं प्रत्यक्षायोग्ययोर्गुणकर्मानुमितयोः सूक्ष्मत्वमिति द्विविधत्वमनयोरिति।

आधुनिकानां खलु भिषजामेतादृशी विभिन्नरूपा

सूक्ष्म वातादि प्रत्यक्ष के अयोग्य होने के कारण अनुमान से सिद्ध होते हैं। एक सम्प्रदाय का मत यह है कि वायु में रूप न होने से वायु का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता है (वैशेषिक और न्याय मत से रूपवान् द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए रूप भी एक कारण है) अतएव वायु तो सर्वदा ही सूक्ष्म है। इसके स्थूल रूप का कुछ प्रमाण नहीं है। पित्त और कफ इन दोनों में जो जो जहां जहां प्रत्यक्ष योग्य है वहां वहां स्थूल है और जो जो प्रत्यक्ष के अयोग्य है अथच गुण और क्रिया से जिनका अनुमान होता है वे सूक्ष्म हैं। इस प्रकार से पित्त और कफ स्थूल भी है और सूक्ष्म भी हैं।

वात, पित्त और कफनामक कोई पदार्थ सारे शरीर में है तो स्थूल दृष्टि से अथवा सूक्ष्मदर्शकादि यन्त्र से उनका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है? इस बात से भयभीत आधुनिक

कल्पनावली दृश्यते । प्राचीनाः खलु शास्त्रकारा वातादीनां न स्थूलत्वं न वा सूक्ष्मत्वमभिहितवन्तः । यद्यपि वायुवर्णने "रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मस्तथाऽव्यक्तो व्यक्तकर्मा च" इत्यादिभिः सूक्ष्मत्वमभिहितं वायोरव्यक्तत्वञ्चेति-मन्यते तथापि नैतावता सूक्ष्म विशेषणेन तस्य प्रत्यक्षा-योग्यत्वमभिप्रेतं ज्ञायते । किन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्रोतःसु गमन सामर्थ्यमेवावगम्यते । यदुक्तम्—सूक्ष्मः सूक्ष्मातिसूक्ष्मेषु स्रोतः-

---

वैद्यराजों की इस प्रकार की नानाविध कल्पना देखी जाती है किन्तु प्राचीन शास्त्रकारों ने वातादि दोषों को स्थूल या सूक्ष्म कुछ भी नहीं लिखा है। यद्यपि वायु के वर्णन-प्रसंग में वायु को रुक्ष, शीत, लघु, और सूक्ष्म लिखकर वायु में सूक्ष्मता का वर्णन किया गया है तथा "अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च" लिखकर वायु को अव्यक्त भी लिख दिया है तथापि इतने विशेषण से ही वायु को प्रत्यक्ष के अयोग्य समझ लेना भ्रम होगा क्योंकि यहाँ सूक्ष्म शब्द का अर्थ "प्रत्यक्ष के अयोग्य" ऐसा नहीं है किन्तु "सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में जाने में समर्थ" ऐसा अर्थ ही यहाँ ठीक प्रतीत होता है। आयुर्वेद में सूक्ष्म शब्द का पारिभाषिक अर्थ भी यह है कि 'विषादिवत जो द्रव्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतोंमें जासकता है

सु गन्तुमर्हतीति । यद्यत्र सूक्ष्मशब्देन परमाणुवत् प्रत्यक्षायोग्यत्वमभिप्रेतं भवेत्ततोऽन्यानि विशेषणानि नैव संगतानि भवन्ति । तथाऽव्यक्त शब्देन नीरूपत्वात् चक्षुषा द्रष्टुमयोग्योऽपि व्यक्तं कर्म कर्तुं समर्थस्ततो नातिसूक्ष्म इति गम्यते ।

अत्रेदं विचार्यते—का खल्वत्र स्थूलत्वसूक्ष्मत्वमर्यादेति प्राग् विनिर्णेयम् । यदि प्रत्यक्षायोग्यत्वं सूक्ष्मत्वं मन्यते तादृशसूक्ष्मद्रव्याणां परमाणूनामिव गुणकर्माण्यपि प्रत्यक्षयोग्यानि

उसको सूक्ष्म कहते हैं ।' यहां यदि सूक्ष्म शब्दका अर्थ 'परमाणुके समान प्रत्यक्षके अयोग्य' माना जावे तो वायुके अन्यान्य विशेषण (रुक्ष शीत लघु चल खर विशद) संगत नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणु के गुण का जैसे प्रत्यक्ष नहीं होता वैसे वायु के गुणों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । फिर उस को रूक्षादि कहना कैसे संगत होगा ? "अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च" इसका भी अर्थ यह है कि रूपरहित होने से वायु चक्षुरिन्द्रिय द्वारा व्यक्त नहीं होता है फिर भी व्यक्त कर्म को करता है, इस विशेषण से भी वायु अतिसूक्ष्म सिद्ध नहीं होता ।

यहां पर यह भी विचार करना चाहिये कि यहां स्थूलता और सूक्ष्मताकी मर्यादा(सीमा)क्या होगी पहले इसका निर्णय होना चाहिये।

न भवन्ति नहि कश्चित् पटुतरेन्द्रियोऽपि परमाणुद्व्यणुक-गुणांस्तत्कर्माणि वा प्रत्यक्षीकर्त्तुं समर्थो दृश्यते। येषां खलु द्रव्याणां गुणाः प्रत्यक्षयोग्यास्तानि द्रव्याण्यपि प्रत्यक्षयोग्यान्येव। तादृशानां सूक्ष्मत्वे कल्पिते सूक्ष्मत्वं स्थूलत्वं वा आपेक्षिकं सर्वेषामेव मध्यमपरिमाणानां कल्पयितुं शक्यते। किन्तु कल्पनामात्रेण वस्तु-स्वरूपं न परिवर्तते। दार्शनिकमते त्रसरेणूनां ततः स्थूलानां च विभुत्वमत इन्द्रियग्राह्यत्वं त्रसरेणुतः सूक्ष्माणामेव सूक्ष्म-

यदि प्रत्यक्ष के अयोग्य को सूक्ष्म कहना अभीष्ट हो तो परमाणुवत अतिसूक्ष्म द्रव्य के गुणकर्मादिकों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि बहुत अच्छी इन्द्रियवाला भी कोई मनुष्य परमाणु अथवा द्व्यणुक के गुण या कर्म का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जिन द्रव्यों के गुण या कर्म का प्रत्यक्ष होता है वे द्रव्य भी प्रत्यक्षयोग्य होते हैं, वैसे द्रव्य को भी सूक्ष्म कहने पर आपेक्षिक स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व सब ही मध्यमपरिमाण द्रव्य में कल्पित हो सकते हैं। किन्तु व्यक्तिविशेष की कल्पनामात्र से वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता। दार्शनिकों की परिभाषा के अनुसार त्रसरेणु और उससे स्थूल को प्रत्यक्षयोग्य विभु तथा

त्वमत इन्द्रियाग्राह्यत्वमिति स्थूलसूक्ष्मयोर्मर्यादा ।

तत्र वातादीनामिन्द्रियग्राह्यतैव नास्ति सूक्ष्मत्वादिति यदि कथ्यते शास्त्रवर्णिता वातादिगुणा अपि कविकल्पनावदवस्तुभूता भवन्ति, अथ शास्त्रवर्णिता वातादिगुणाः प्रत्यक्षसिद्धाः सत्याश्चेद्वातादीनामपि प्रत्यक्षयोग्यत्वमतो विभुत्वं वाच्यमेव नहि प्रत्यक्षगुणानां द्रव्याणां सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षं कथमपि कथयितुं शक्यते । प्रत्यक्षायोग्यानां

त्रसरेणु से भी सूक्ष्म द्व्यणुक और परमाणु को प्रत्यक्षायोग्य सूक्ष्म माना जाता है। दार्शनिकमत में स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व की मर्यादा यही है (इसको बदल देने का प्रयोजन कुछ नहीं है)

अब यदि वातादि को प्रत्यक्षायोग्य परमसूक्ष्म माना जावे तो शास्त्रकारों ने वातादि के जो गुण आदि का वर्णन किया है वह कविकल्पनावत् अलीक हो जाता है। यदि कहो कि वातादि के शास्त्रवर्णित गुण प्रत्यक्षसिद्ध सत्य हैं तो यह भी कहना पड़ेगा कि वातादि भी प्रत्यक्षयोग्य विभु हैं। जिस द्रव्य में प्रत्यक्ष योग्य गुण विद्यमान हैं ऐसे द्रव्य को प्रत्यक्ष के अयोग्य सूक्ष्म कह देना किसी प्रकार से संगत नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष के अयोग्य वातादि

वातादीनामस्तित्वे प्रमाणमपि किञ्चिन्नोपलभ्यते । येतु रूप-रहितस्य प्रत्यक्षयोग्यताऽसम्भवे स्पर्शादिलिङ्गेन वायोरनु-मेयत्वमेव मन्यन्ते तन्मते घटादिरूपवद्द्रव्याणामपि सदैवानु-मेयत्वं प्रसज्यते । कथमिति चेदुच्यते—स्पर्शगुणवता वायु-ना सह त्वगिन्द्रियस्य सन्निकर्षे जातेऽपि यदि तत्र त्वगिन्द्रिये-ण वायुप्रत्यक्षमनंगीकृत्य स्पर्शलिंगेन वायोरनुमानं मन्यते तदा वायोर्गुणस्य स्पर्शस्य प्रत्यक्षं जातं किन्तु वायोर्न प्र-

---

के अस्तित्व सिद्ध करने में कुछ प्रमाण भी नहीं मिलता । जो कहते हैं कि रूपरहित वायु में प्रत्यक्षयोग्यता असम्भव है केवल वायु के स्पर्शादिलिङ्ग द्वारा उसका अनुमान किया जाता है ऐसा कहने वालों के मत में घटादि रूपवान द्रव्य को भी प्रत्यक्ष के अयोग्य अनुमेय (अनुमान से जानने योग्य) कहना पड़ेगा क्योंकि स्पर्शगुण-विशिष्ट वायु के साथ त्वगिन्द्रिय का सन्नि-कर्ष होने के बाद भी यदि त्वगिन्द्रिय से वायु का प्रत्यक्ष स्वीकार न करके स्पर्शरूप लिंग (अनुमान के हेतु) से वायु का अनु-मान माना जावे तो कहना पड़ेगा कि त्वगिन्द्रिय से वायु के स्पर्श का तो प्रत्यक्ष हुआ किन्तु वायु का प्रत्यक्ष नहीं हुआ, उस स्पर्श से वायु का अनुमान ही हुआ । ऐसा स्वीकार करने वालों को यह

स्यत्तं किन्त्वनुमानमिति स्वीकृते वृत्तस्य रूपेण सह चत्तुषः सन्निकर्षे जातेऽपि वृत्तरूपमात्रस्य प्रत्यत्तं वृत्तस्य त्वनुमानमात्रमित्यपि वाच्यं स्यात्। यद्येवं वक्तुं न शक्यते वायोरपि त्वगिन्द्रियेण प्रत्यत्तं स्वीकार्यमेव "घ्राणजादिविभेदेन प्रत्यत्तं षड्विधं मतमि"ति शास्त्रवचनं तत्र यथा तैजसेन चत्तुषा तैजसरूपप्रत्यत्तं जायते तथैव वायवीयेन त्वगिन्द्रियेण वायवीयस्पर्शप्रत्यत्तं जायत इति तुल्यो नियमस्तत्र येषां द्रव्याणां गुणस्य प्रत्यत्तं जातं तेषां द्रव्याणामपि प्रत्यत्तं

भी मानना पड़ेगा कि वृत्त के रूपके साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने से वृत्त के रूपमात्र का ही प्रत्यत्त हुआ और उस रूप से वृत्त का अनुमान हुआ। वृत्त से चक्षुका सन्निकर्ष भी नहीं होता, अतएव वृत्त का प्रत्यत्त भी नहीं होता, केवल रूप का प्रत्यत्त और उससे वृत्त का अनुमान होता है। यदि रूपमात्र का प्रत्यत्त और रूपवान् द्रव्य का अनुमान होता है ऐसा न माना जावे तो त्वगिन्द्रिय से वायुका प्रत्यत्त भी स्वीकार करना पड़ता है। घ्राणज आदि भेद से ६ प्रकार के प्रत्यत्त का उल्लेख शास्त्रकारों ने किया है उनमें से जैसे तैजस चक्षुरिन्द्रिय द्वारा तैजस रूप का प्रत्यत्त होता है वैसे ही वायवीय त्वगिन्द्रिय द्वारा वायवीय स्पर्श का प्रत्यत्त होता है,

जातमेवेति स्वीकार्यमेव ।

यत्तु रूपवतामेव त्वगिन्द्रियेणापि प्रत्यक्षमिति नियमस्तन्न संगच्छते यतो भूतानां सर्वेषामेवैकैके-न्द्रियार्थाश्रयत्वं तथा यद्भूतप्रधानं यदिन्द्रियं तद्भूत-गुणमेव तेनेन्द्रियेण ज्ञातुं शक्नोति नान्येनेन्द्रियेणान्य-भूतगुणमिति व्यभिचाररहितो नियमो युक्तिसिद्धश्चेति प्रमाणीकृतं पञ्चभूतविज्ञाने तस्मात्त्वगिन्द्रियेण सर्वदा सर्वत्र

यहां तक तुल्य नियम है। जिस द्रव्य के गुण का प्रत्यक्ष होता है उस द्रव्य का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना पड़ता है।

ऐसा जो कहा जाता है कि जिसमें रूप है त्वगिन्द्रियसे भी उस का ही प्रत्यक्ष होता है, यह नियम भी संगत नहीं है, क्योंकि सब ही भूत एक एक इन्द्रियार्थ (शब्दस्पर्शादि) के आश्रय हैं तथा जिस इन्द्रिय के उपादानों में जो भूत प्रधान है उस इन्द्रिय से उस भूत के विशेष गुण का ही प्रत्यक्ष हो सकता है, दूसरी इन्द्रिय से दूसरे भूत (जो भूत उस इन्द्रिय का प्रधान उपादान नहीं है) के विशेष गुण का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, ऐसे अव्यभिचारी युक्तिसिद्ध नियम को पंचभूतविज्ञान में प्रमाणित किया गया है।

वायवीय एव स्पर्शोऽनुभूयते स स्पर्शो वायवीयोऽपि अधिकरणभूतस्थूलद्रव्यभेदात् सर्वत्रैव भिद्यते। गुणप्रत्यक्षे गुणिनोऽपि प्रत्यक्षं स्वीकार्यमेवान्यथा घटरूपं वृक्षरूपमित्याद्यनुभवभेदो न सम्भवति। एतेन स्पर्शनेन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षयोग्यस्य शारीरवायोरपि स्थूलत्वमेव वाच्यमत एव तस्य रूक्षत्वादिगुणा अपि प्रत्यक्षीभूताः सत्याः सम्पद्यन्ते। शरीरस्थेषु वातपित्तकफेषु रूपरहितो वायुश्चक्षुषा द्रष्टुं न शक्यते किन्तूद्गारापानादिरूपेण निर्गच्छन् मलभूतो वायुः कम्पादिकारको

उस नियम के अनुसार त्वगिन्द्रिय से सर्वदा वायवीय स्पर्श का ही प्रत्यक्ष होता है। वह स्पर्श वायवीय होकर भी अधिकरण द्रव्य (जिस स्थूल द्रव्य में स्पर्श रहता है) के भेद से विभिन्न प्रकार का होता है। गुण के प्रत्यक्ष के साथ साथ गुण के आश्रयभूत द्रव्य का भी प्रत्यक्ष स्वीकार करना पड़ता है अन्यथा घट का रूप, वृक्ष का रूप इत्यादि विभिन्न प्रकार की अनुभूति नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है कि स्पर्शनेन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षयोग्य शारीर वायु भी स्थूल है। अतएव वायु के रूक्षतादि गुण भी जो प्रत्यक्षसिद्ध हैं सत्य हो सकते हैं। शरीरस्थ वात, पित्त और कफ में से रूपरहित वायु चक्षु से नहीं देखा जाता है किन्तु उद्गार (डकार) अपान

दोषाख्यो वायुर्हृदन्त्रादिचालको धातुभूतश्च वायुः स्पर्शनेन्द्रियेण प्रत्यक्षमेवावगन्तुं शक्यते। वमनादौ निर्गच्छन् मलरूपं पित्तं ज्वरदाहादिकृद्दोषाख्यं पित्तं शरीरतापरक्षकञ्च धातुभूतं पित्तं प्रत्यक्षमेव किन्तु निर्गतं पित्तं चक्षुषा दृश्यते, नानाद्रव्यैः सह मिलितं शरीरान्तःस्थं तूष्णस्पर्शेणावगम्यते इति विशेषः। एवं कासादिरोगेषु निर्गच्छन् मलभूतः श्लेष्मा पित्तश्लेष्मज्वरादिकारको दोषभूतः श्लेष्मा तथा आमाशयोरःकण्ठशिरःसन्धिष्ववस्थितो धातु-

---

(अधोवायु) आदि रूप में निकलने वाला मलभूत वायु, कम्पादिकारक दोषभूत वायु तथा हृदन्त्रादि का संचालक धातुभूत वायु स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है। वमनादि में निकलने वाला मलभूत पित्त, ज्वरदाहादिकारक दोषरूप पित्त तथा शरीर में यथोचित उत्ताप रखने वाला धातुरूप पित्त भी प्रत्यक्ष ही है। फिर भी निकले हुये पित्त को चक्षु से ही देख सकते हैं, किन्तु शरीरस्थ पित्त को उष्ण स्पर्श से प्रत्यक्ष किया जाता है इतना विशेष है। इस प्रकार कासादिक रोग में निकलने वाला मलभूत श्लेष्मा, पित्तश्लेष्मज्वरादि को उत्पन्न करने वाला दोषभूत श्लेष्मा तथा आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिर और सन्धि में रहने वाला

भूतः श्लेष्मा प्रत्यक्षमेव दृश्यते तत्रापि अस्थ्यादिस्थूलांगानां स्थूलसन्धिषु वर्त्तमानः श्लेष्मा यन्त्रादिसाहायकमन्तरेणापि द्रष्टुं शक्यते किन्तु सूक्ष्मांगसंयोजकः श्लेष्मा सर्वत्र द्रष्टुं न शक्यते। नैतावता तादृशश्लेष्मणोऽभावः सिध्यति किन्तु विद्यमानस्यापि तस्य कारणान्तरजन्यः प्रत्यक्षाभाव इति सिध्यति। विद्यमानमपि वस्तु अतिदूराति-सामीप्यसौक्ष्म्यसमानाभिहराभिभवादिकारणादप्रत्यक्षं संजा-

धातुरूप श्लेष्मा प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। उनमें भी अस्थि आदि स्थूल अङ्गों की स्थूल सन्धि में जो श्लेष्मा रहता है वह तो यन्त्रादि की सहायता न लेकर केवल स्थूल दृष्टि से ही देखा जाता है, किन्तु सूक्ष्म अङ्गों का संयोजक श्लेष्मा सब जगह में नहीं देखा जाता किन्तु इतने से सूक्ष्मांगों के संयोजक श्लेष्मा का अभाव सिद्ध नहीं होता। विद्यमान श्लेष्मा का भी कारणान्तर से प्रत्यक्षाभाव सिद्ध होता है। अति दूर में रहना अति समीप (चक्षु के अति सन्निकट) रहना, सूक्ष्मता, समान द्रव्यों में मिल जाना, अभिभव हो जाना (जैसे दिन में सूर्यकिरण से नक्षत्र अभिभूत हो जाते हैं) इत्यादि कारणों से विद्यमान वस्तु जो प्रत्यक्ष योग्य है उसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

यते। शारीरा दोषा अपि क्वचित्समानाभिहारात् क्वचित्सौक्ष्म्यान्नानुभूयन्ते। अत्र सौक्ष्म्यशब्देन प्रत्यक्षायोग्यत्वं न मन्तव्यं किन्तु मादृशानामिन्द्रियं यावत् सूक्ष्मग्रहणासमर्थं ततोऽपि सूक्ष्ममिति ज्ञेयम्। तेन यन्त्रशक्तिवर्द्धनादिन्द्रियशक्ति-

शरीरस्थ दोष भी कदाचित् समान द्रव्यों के साथ मिले रहने से और कदाचित सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते। यहां सूक्ष्मता का अर्थ यह है कि जैसा वायुमण्डल में फैला हुए कपूर का घ्राणेन्द्रिय द्वारा तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीप्रकार जिस दोषका प्रत्यक्ष और किसी इन्द्रिय से होता है किन्तु चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता उसी को सूक्ष्म कहा जाता है। पांचों भूतों से उत्पन्न होने वाला द्रव्य परमाणुके समान, अणु-परिमाण किसी प्रकारसे नहीं हो सकता है, क्योंकि पांचों भूतों के त्रसरेणु जिसके उपादान हैं वह परमाणु के समान सूक्ष्म किस प्रकार से होगा? इससे सिद्ध होता है कि यहां सूक्ष्म शब्द से प्रत्यक्ष के अयोग्य न समझ कर हमारी दृष्टि में न आने वाली वस्तु को ही सूक्ष्म समझना चाहिए।

इससे यह सिद्ध होता है कि यन्त्रशक्ति को बढ़ाने से अथवा इन्द्रिय शक्ति को बढ़ानेसे इस समय जो सूक्ष्म होनेसे अप्रत्यक्ष है आगे कभी उसका भी प्रत्यक्ष हो जावेगा लेकिन जिसमें प्रत्यक्ष

वर्द्धनाद्वाऽधुनाऽप्रत्यक्षमपि कदाचित् प्रत्यक्षं भवितुमर्हति किंतु यत्प्रत्यक्षायोग्यं तस्य प्रत्यक्षं केनापि कदापि न सम्भवति। सूक्ष्मस्याप्रत्यक्षस्य कथं प्रत्यक्षयोग्यतेति चेद् उच्यते—यत्र गृहे कर्पूरगन्धोऽनुभूयते तत्र गन्धाधिकरणभूतो रूपवानपि कर्पूरावयवो न दृश्यते चक्षुषेतिशक्तिभेदादिन्द्रियाणां यत् केनचिदिन्द्रियेण प्रत्यक्षं तदेवेन्द्रियान्तरेणाप्रत्यक्षं संजायते तस्माच्छरीरस्थदोषाणां प्रत्यक्षयोग्यत्वं सर्वेषामेव किन्तु शक्तिभेदादिन्द्रियाणां क्वचित्प्रत्यक्षं क्वचिदप्रत्यक्षमिति।

योग्यता ही नहीं है उसका प्रत्यक्ष किसी से कभी नहीं हो सकता। सूक्ष्म होने के कारण जो अप्रत्यक्ष है उसमें प्रत्यक्षयोग्यता किस प्रकार रह सकती है इस बात को दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है—जिस घर के वायु मण्डल में कर्पूर फैल गया है और उसको गन्ध भी मालूम पड़ती है वहां उस प्रत्यक्ष गन्ध के अधिकरणभूत रूपवान कर्पूर का अवयव भी चक्षु से नहीं देखा जाता। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंकी शक्ति विभिन्न प्रकारकी होने से जो द्रव्य एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो रहा है वह भी दूसरी इन्द्रिय से अप्रत्यक्ष रह जाता है। अतएव सिद्धान्त यह है कि शरीरस्थ सब ही दोष प्रत्यक्षयोग्य हैं किन्तु इन्द्रियोंकी शक्तिके भेद

किंच जीवितशरीराद्दोषाणां पृथक्करणशक्त्यभावान् मृतशरीरे च तेषां स्वरूपस्यैव विपर्यस्तत्वादस्थिमांसादिवद्दोषाणां पृथक्कृतानां प्रत्यक्षं साम्प्रतं न संजायते किन्तु प्राचीनैरेषां रूपरसादयो यथा निश्चित्य वर्णितास्तेनानुमीयते तेषामेषां पृथक्करणे शक्तिरप्यासीदिति। कुशलैरेषां पृथक्करणाय कार्यो यत्नो नतु प्रत्यक्षायोग्यताकल्पनेति।

तथाचोक्तम्—

दोषाणामतिसूक्ष्मत्वे तद्गुणानामदृश्यता।

से कहीं तो उनका प्रत्यक्ष होता है और कहीं नहीं भी होता है। दूसरी बात यह है कि जीवित शरीर से दोषों को पृथक करने की शक्ति हमारे अन्दर नहीं है और मृतशरीरमें तो दोषोंका स्वरूपही बिगड़ जाता है इसलिए अस्थिमांसादिवत् शरीर से पृथक किये हुए दोष का प्रत्यक्ष अब नहीं होता है किन्तु शास्त्र में इनके रूपरसादि का जैसा निश्चित रूप में वर्णन है उससे अनुमान किया जाता है कि इनको पृथक्क करनेकी शक्ति शास्त्रकारों को थी। हमें भी इनको पृथक् करने की शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए, प्रत्यक्षके अयोग्य कल्पना करना ठीक नहीं। यहां कहा जाता है कि दोष यदि परमाणुवत् अतिसूक्ष्म होते तो उनके गुणों का भी प्रत्यक्ष

यतो दृश्यगुणाः सर्वे महान्तस्ते ततो मताः ॥
अणुत्वाभाव एवात्र महत्त्वं परिकथ्यते ।
व्यापकत्वं तु जन्यानां कदाचिन्नैव सम्भवेत् ।
तस्मान्मध्यप्रमाणा हि दोषाः सर्वे बुधैर्मताः ॥

इति दोषाणां स्थूलत्वस्थापनाख्यः षष्ठोऽध्यायः ।

नहीं हो सकता था। क्योंकि सब ही दोषों के गुण प्रत्यक्ष होते हैं अतः दोष भी महत्परिमाण हैं। यहां महत् का अभिप्राय आत्मादिवत् परममहत्परिमाण नहीं है किन्तु अणुत्व का अभाव ही महत्त्व शब्द से समझना चाहिए क्योंकि जन्य (उत्पत्तिशील) पदार्थ व्यापक कभी नहीं हो सकता। अतएव सबही दोष परमाणु और द्व्यणुकके समान अणुपरिमाण भी नहीं हैं और आत्मादिवत् सर्वव्यापक भी नहीं है किन्तु मध्यमपरिमाणविशिष्ट हैं। इस प्रकार विद्वानों की सम्मति है।

दोषों के स्थूलत्व स्थापन नामक षष्ठ अध्याय समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

वातादीनामुपादानमुपादानात्तेषामुत्पत्तिक्रमश्च—

तत्र वायुरात्मनैवात्मा पित्तमाग्नेयं सौम्यः श्लेष्मेति शास्त्रनिर्देशादवगम्यते यद्देहस्य पांचभौतिकत्वात् तत्रत्या वातादयः सर्व एव पांचभौतिकास्तथापि वायुर्वायवीयो वायुभूतप्रधानः पित्तमाग्नेयमग्निभूतप्रधानं श्लेष्मा सौम्यः सौम्यगुणप्रधानो भूमिजलभूतप्रधान इत्यर्थः। अत्राप्य-

वातादि दोषों के उपादान और उपादान से उनकी उत्पत्ति का वर्णन—

शास्त्र में वातादि के लिये लिखा है कि वायु स्वयं वायुरूप है, पित्त आग्नेय (अग्निप्रधान) है (कहीं पित्त में अग्नि और जल का प्राधान्य वर्णित हुआ है) और श्लेष्मा सौम्य (सोमगुणप्रधान) है। शास्त्र के इस निर्देश से समझा जाता है कि शरीर जब पांचभौतिक है तो उसमें रहने वाले वातादि दोष भी पांचभौतिक होंगे फिर भी वायु वायवीय है अर्थात् शरीरस्थ पांचभौतिक वात वायुभूतप्रधान है। पित्त आग्नेय है अर्थात् पांचभौतिक पित्त अग्निभूतप्रधान है। श्लेष्मा

मित्यनुल्लिख्य सौम्यपदोपन्यासादवगम्यते जलपृथ्वी-प्रधानः श्लेष्मेति। जलपृथिवीप्रधाने सौम्यशब्दप्रयोगोऽन्यत्रापि दृश्यते यथा सोमगुणातिरेकान्मधुर इति। आकाशं भित्त्वा सर्व एव गन्तुं शक्नोति कस्यापि रोधकं न भवत्याकाशमिति ततो नाकाशप्रधानः कश्चिद्दोषः सम्भवति किंतु सर्वेष्वेव दोषेष्वाकाशसंयोगो सर्वत्रैव-

---

सौम्य है अर्थात् पांचभौतिक श्लेष्मा पृथिवी और जलभूत प्रधान है। यहां श्लेष्मा को आप्य (जलीय) लिख कर सौम्य लिखने से ही श्लेष्मा में पृथिवी और जल का प्राधान्य समझा जाता है। जल और पृथिवी के प्राधान्य के लिए अन्यत्र भी सौम्य शब्द का प्रयोग शास्त्रोंमें ही देखा जाता है। जैसा कि सोम गुण के प्राधान्य से मधुर रस उत्पन्न होता है (यहां सोम गुणातिरेक शब्द का अभिप्राय पृथिवी और जल का प्राधान्य ही है क्योंकि अन्यत्र लिखा है कि भूमि और जलके गुणों के बाहुल्य से मधुर रस उत्पन्न होता है।

आकाश को भेद करके सब ही जा सकते हैं आकाश कभी किसी का रोधक नहीं बन सकता, अतः आकाशप्रधान दोष नहीं हो सकता किन्तु सब ही दोषों का सर्वत्र आकाश से संयोग

विद्यते तस्य सर्वमूर्त्तसंयोगित्वाद् द्व्यणुकारम्भकपरमाण्वो-रन्तरालेऽप्याकाशास्तित्वं विद्यत इति पञ्चभूतविज्ञाने प्रतिपादितम्। दोषाणां पांचभौतिकत्वेऽपि न साक्षात् भूता-देव परमाणुस्वरूपाद् वातादयो दोषा उत्पद्यन्ते न वान्य-दपि किंचिददृश्यं दृश्यं वा परमाणुस्वरूपाद्भूतादुत्पद्यते किंतु वर्तमानसमये पांचभौतिकादेव सर्वेषां पांचभौतिकाना-मुत्पत्तिर्जायते भूताद्भौतिकोत्पत्तिस्तु द्व्यणुकादिक्रमेण सर्गा-

---

विद्यमान है क्योंकि आकाश सब ही मूर्त द्रव्यों से संयोग रखने वाला है। जो दो परमाणु मिल कर एक द्व्यणुक को उत्पन्न करते हैं उन दो परमाणुओं के अन्तराल में भी आकाश का अस्तित्व है इस बात को पंचभूतविज्ञान में सिद्ध किया है।

सब ही दोष पांचभौतिक हैं किन्तु परमाणुस्वरूप भूत से साक्षात् रूप में कोई भी दोष उत्पन्न नहीं हो सकता। और न कोई दृश्य वस्तु साक्षात् परमाणु से उत्पन्न हो सकती है। अब तो पांचभौतिक द्रव्यों से ही सब पांचभौतिक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। भूत से (परमाणु से) भौतिक की उत्पत्ति द्व्यणुकादि क्रम से सृष्टि के प्रारम्भ में ही होती है इसको पंचभूतविज्ञान में विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

द्वावेवेति प्रतिपादितं पञ्चभूतविज्ञाने। शरीरस्योपादानभूते शुक्रशोणिते अपि पांचभौतिके तत्रावस्थिता गतितापश्लेषण-कारका वात-पित्त-कफा अपि पांचभौतिका एवेति। पितृ-मातृ शरीरतः शुक्रशोणितद्वारा गर्भाशयमेत्य परस्परं मिलिता मातृशरीरात्पोषकं प्राप्य भ्रूणेन सह वर्धन्ते। मातृ-शरीराद्र-सरक्तादिर्यथा भ्रूणशरीरमागत्य पोषयति तथैव रसादिस्थाः वातादयोऽपि वातादीन् पोषयन्ति गर्भान्निर्गतस्तु भोजनादि-

---

शरीर के उपादानभूत शुक्र-शोणित भी पांचभौतिक हैं। उन शुक्र-शोणित में अवस्थित गतिकारक वायु, तापजनक पित्त और श्लेषण (संयोग) कारक कफ भी पांचभौतिक है। यह वायु, पित्त और कफ पिता के शुक्र और माता के शोणित (बीज) के साथ मिलकर गर्भाशय में आकर परस्पर मिलित होकर माता के शरीर से पोषक पदार्थ को प्राप्त करके भ्रूण (गर्भस्थ सन्तान) के साथ साथ बढ़ते रहते हैं। मातृशरीर से रस-रक्तादि जैसे सन्तान के शरीर में जाकर रस-रक्तादि का पोषण करते हैं ऐसे ही उन रस रक्तादि में अवस्थित वातादि भी भ्रूण-शरीरस्थ वातादि का पोषण करते हैं। गर्भ से निर्गत शिशु जैसे भोजनादि द्वारा शरीर का पोषण करता है ऐसे ही

द्वारा यथा शरीरं पोषयति तथैव वातादीनपि, तेषामपि शरीरांशत्वात् ।

तत्र वातादीनामुत्पत्तिक्रमं वर्णयिष्यामः । यदुक्तं चरकसंहितायां ग्रहणीचिकित्साध्याये—

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
मधुराद्यात् कफभावात् फेनभाव उदीर्यते ॥
परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥

भोजनादि द्वारा ही वातादि का भी पोषण करता है क्योंकि वातादि भी शरीर का ही अंश हैं ।

वातादि के उत्पत्तिक्रम का वर्णन किया जाता है—

चरकसंहिता के ग्रहणीचिकित्साध्याय में लिखा है कि—

छः रसविशिष्ट अन्न को भोजन करने के बाद ही उसके पाक से जो मधुरभाव उत्पन्न होता है उससे फेन भूत (झाग) श्लेष्मा बढ़ता है। उस अन्न का और भी पाक होता रहता है तो और अम्ल पदार्थ मिलने से अन्न जब विदग्ध होकर आमाशय से ग्रहणी में जाता रहता है तो अच्छपित्त बढ़ता है। वह अन्नरस (तरल अन्न) जब पक्वाशय में पहुँच जाता है और अग्नि के तेज

पक्वाशयन्तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥ इति

अस्यायमर्थः—यद्यपि भुक्तेष्वन्नपानीयेषु षडेव रसाः सन्ति तथापि तेषु मध्ये मधुर एव रसः परिपाकक्रियया आमाशये प्रथममभिव्यक्तो भवति भुक्तमन्नं मधुरतरं भवतीत्यर्थः । लालारससंयोगाच्छ्वेतसारस्य शर्करारूपेण परिणतत्वात् क्लेदकश्लेष्मसंयोगाच्चायं मधुरभाव इति स्वीक्रि-

---

से शुष्क होता रहता है तथा परिपिण्डित पक्व होता है तो कटु बन जाने से उससे वायु की उत्पत्ति होती है। इसका विस्तृत अर्थ यह है:—

यद्यपि भुक्त अन्न पानीय आदि में छः रस रहते हैं तथापि उनमें से केवल मधुर रस ही परिपाक क्रिया से आमाशय में प्रथम अभिव्यक्त होता है अर्थात भुक्त अन्न और भी अधिक मधुर (मीठा) बन जाता है। लाला-रस के संयोग से श्वेतसार के शर्करा रूप में बदल जाने से और क्लेदक श्लेष्मा से मिलने के कारण इस प्रकार माधुर्य बढ़ जाता है, ऐसा वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। इसप्रकार मधुरभाव को प्राप्त किये हुए अन्न से फेन स्वरूप श्लेष्मा उत्पन्न होता है। क्योंकि श्लेष्मा भी मधुर है, मधुर

यते वैज्ञानिकैरपि। एवं मधुरीभूतादन्नात् फेनभावः श्लेष्मोदीर्यते कफस्यापि मधुरत्वान्मधुरीभूतादन्नात्तस्य वृद्धिर्युक्तैव। यदुक्तं 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणमि'ति। ननु श्लेष्माहि रसधातोर्मलमिति शास्त्रेषु वर्णितं यदुक्तं "कफः पित्तं मलं खेषु" इत्यादि। तत्र रसधातुः पित्तस्वरूपेण (न च पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यत इति सुश्रुत वाक्यात्) रसाग्निना पक्वः सन् पञ्चदिनानन्तरं रस-मल

अन्न से उसकी वृद्धि भी अवश्य होनी चाहिए क्योंकि सामान्य (समान गुण विशिष्ट) से सर्वदा सब भाव पदार्थों की वृद्धि होती है ऐसा नियम है।

यहां शंका होती है कि कफ तो रस धातु का मल है क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि कफ रस का, पित्त रक्त का कर्णादि छिद्रों का मल मांस का स्वेद (पसीना) मेद का नख, रोम आदि अस्थि का, नेत्र, मल (विष्टा) और त्वचा का स्नेह मज्जा का मल है। वह रस धातु पित्त-स्वरूप रसाग्नि से (क्योंकि सुश्रुत में लिखा है कि शरीर में पित्त के अतिरिक्त कोई अग्नि नहीं है अतएव रसाग्नि भी पित्त का ही एक रूपान्तर है) परिपक्व होकर पांच दिन के बाद रस, मल और प्रसाद नामक तीन भागों में विभक्त

प्रसादरूपेण त्रिधा विभक्तो रसो रसं पोषयति मलभागः श्लेष्माणं पोषयति प्रसादभागश्च रक्तं जनयति। एवं रस-धातोर्मलस्वरूपस्य श्लेष्मधातोरुत्पत्तिर्न भुक्तमात्रादन्ना-दामाशये सम्भवतीति चेद् उच्यते—फेनभावः कफ इति फेन स्वरूपः कफ उत्पद्यत इत्यर्थः। अयमभिप्रायः—भुक्तद्रव्यात् कफजनको योंऽश आमाशये संगृहीतो भवति नासौ कफ धातुः किन्तु कफोपादानभूतः फेनस्वरूपः कफः। स उत्पन्नः सन् रसमध्य एव तिष्ठति, पश्चाद्रसस्य सम्यक् पाककाले

होता है। इनमें से रस भाग तो शरीरस्थ रसका पोषण करता है। मलभाग कफ को उत्पन्न करता है और प्रसाद भाग रक्त धातु में परिणत हो जाता है। इस प्रकार रस धातु के मल स्वरूप कफ की उत्पत्ति आमाशय में भुक्त अन्न से भोजन के बाद ही नहीं हो सकती इस शंका के उत्तर में शास्त्रकार ने लिखा है कि फेन भाव कफ उत्पन्न होता है अर्थात फेन स्वरूप कफ उत्पन्न होता है। इस का अभिप्राय यह है कि—

भुक्त द्रव्य से कफ़ जनक जो अंश आमाशय में संगृहीत होता है वह ही कफ़ धातु नहीं है। वह तो कफ़ का उपादान स्वरूप फेनभूत श्लेष्मा है। वह उत्पन्न होकर रस में मिला हुआ रहता है

फेनभूतस्य कफस्यापि पाकः संजायते तस्मादेव गुरु शीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलादिगुणः श्लेष्मा उत्पद्यते। एतेनामाशये मधुरादन्नात् कफस्योत्पत्तिस्तथा रस धातोर्मलभूतस्य कफस्योत्पत्तिरित्येतद् द्वयमेव संगच्छते। यथा कस्मिंश्चित् परिवारे उपार्जकः पुरुषः स्वेनोपार्जनेन परिवारस्थान् सर्वानेव पोषयति तथैवामाशयस्थः श्लेष्मा भुक्तद्रव्यस्य मधुरादिकफवर्धकेनांशेनाप्यायितः सन्नन्यत्रावस्थितानपि बोधकतर्पकश्लेषकावलम्बकाख्यान् कफानाप्याययति। रस-

जब रस का सम्यक् पाक होता है उसके साथ २ फेनभूत श्लेष्मा का भी पाक होता है जिससे गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध मधुर, स्थिर, पिच्छिलादि गुणयुक्त श्लेष्मा धातु उत्पन्न होता है। इस प्रकार से देखा जावे तो आमाशय में मधुर अन्न से कफ की उत्पत्ति तथा रस धातु के मल स्वरूप कफ की उत्पत्ति दोनों ही संगत होती हैं। जैसे किसी परिवार में एक उपार्जन करने वाला अपने उपार्जन से परिवारस्थित सबको पोषण करता है ऐसे ही आमाशयस्थ श्लेष्मा भुक्त द्रव्यों के मधुरादि कफवर्धक अंश से स्वयं पुष्ट होकर अन्यत्रावस्थित बोधक, तर्पक, श्लेषक और अवलम्बक नामक श्लेष्मा को पुष्ट करता है। यद्यपि श्लेष्मा रस

धातोर्मलभूतस्यापि श्लेष्मणः शरीरधारकत्वात् धातुसंज्ञा संगच्छते। कफोपादानाद्धातुभूतः श्लेष्मोत्पद्यते। कफजनकद्रव्यादीनामत्युपयोगादावश्यकातिरिक्तः श्लेष्मा संजातः सन् स्वाशये संचितो भवति ततः प्रकोपकारणेन प्रकुपितो यदा प्रसरादिद्वारा दुःखकारकः संजायते तदा दोषसंज्ञां लभते, यदा

धातु का मल है तथापि शरीर के धारक होने से उसकी धातु संज्ञा भी संगत होती है। कफ के उपादान से धातुभूत श्लेष्मा उत्पन्न होता है। कफ कारक द्रव्यादि के अति सेवन से प्रयोजन से अतिरिक्त श्लेष्मा उत्पन्न होकर श्लेष्मा के आशय में ही संचित होता है (यहां स्मरण रखना चाहिए कि शरीर में जितने उत्पत्तिशील पदार्थ हैं, उनमें से कुछ न कुछ अंश प्रतिक्षण में ही नानाविध कारण से घटता रहता है। आहारादि से जो पोषक पदार्थ शरीर में पहुँचता है वह ही घटे हुए अंश को पूरा करता है। जितने अंश का क्षय होता है उससे भी अल्प पोषक पदार्थ पहुँचे तो क्षय ही होता रहता है। क्षीण अंश से पोषक द्रव्य अधिक पहुँचे तो पुष्टि होती है इससे भी अधिक पोषक पदार्थ पहुँचे तो शरीर में उसका ठीक २ उपयोग नहीं होता है अतः अनावश्यक अंश विकारजनक होता है) अनन्तर प्रकोपक कारण से प्रकुपित होकर प्रसारादि द्वारा जब दुःख का कारण बन जाता है तब दोष

त्वतिदुष्टः शरीरधारणेऽनुपयोगी बहिर्निर्गमनाय धात्वादितः पृथग् भवति निर्गच्छति च शरीरात्तदा मलसंज्ञां लभते । तस्माद्धातुभूतस्य यस्य कफस्योत्पत्तिरन्नादितः संजायते तस्यैव दोष-मल-संज्ञापादकानि कारणानि सन्तीत्यवगन्तव्यम् । धातुभूतः श्लेष्मा एकविध एव जायते यः स्थानकर्मभेदात् पञ्चधा भिद्यते प्रकोपकस्य वैशिष्ट्याद् "विकृतौ नियमो नास्ति" इति न्यायाच्च दोषभूतः श्लेष्मा नानाविधो भवति ततो नानाविधा रोगा जायन्ते ।

संज्ञा को प्राप्त करता है । जब अत्यन्त दुष्ट और शरीर धारण में नितान्त अनुपयोगी होकर शरीर से बाहर निकलने के लिए धातु आदि से पृथक हो जाता है अथवा शरीर से बाहर निकलता है तब मल संज्ञा को प्राप्त करता है । अतएव देखा जाता है कि अन्नादि से जो धातुभूत श्लेष्मा उत्पन्न होता है उसी को दोष और मल रूप में परिणत करने वाले कारण बहुत हैं । धातुभूत श्लेष्मा एक प्रकार का ही उत्पन्न होता है जो स्थान और कार्य भेद से पांच प्रकार का हो जाता है । किन्तु विकृति में प्रकोपक के वैशिष्ट्य निबन्धन तथा 'विकृति में स्थिर नियम नहीं है' इस न्याय के अनुसार दोषभूत श्लेष्मा नाना प्रकार का होता है जिससे

मलभूतो बलासोऽपि बहुविध एव। यथा पाँचभौतिकादपि द्रव्यात् पञ्चभूतानि पृथक् कर्त्तुं न शक्यन्ते यथा वा दुग्धादिस्थितं जीवकाख्यं सूक्ष्मद्रव्यं पृथक् कर्त्तुं न शक्यते तथैव धात्वादिषु मिलित्वैवावस्थिता वातादयो जीवितशरीरान्नाधुना केनापि पृथक् कर्त्तुं शक्यन्ते। वातादीनां शरीरधारकाणामतिविकृतिमन्तरेण मृत्युरेव न स्यादिति मृतशरीरादपि वातादयः पृथक् कर्त्तुं न शक्यन्ते तस्मादेतादृशा वातादयः प्रत्यक्षयोग्यगुणवन्तो मध्यमपरिमाणा अपि

नानाविध रोग उत्पन्न होते हैं। मलभूत कफ भी बहुत प्रकार का है। जैसे पांचभौतिक द्रव्य से पांचों भूतों को पृथक् पृथक् करके देख नहीं सकते, जैसे दुग्धादि में अवस्थित जीवक नामक सूक्ष्म द्रव्य को पृथक् नहीं कर सकते ऐसे ही धात्वादि में मिलित होकर रहने वाले वातादि को जीवित शरीर से अब कोई भी पृथक् नहीं कर सकता। शरीरधारक वातादि की अत्यन्त विकृति न होने से मृत्यु ही नहीं होती है इसलिए मृतशरीर से भी वातादि को पृथक नहीं कर सकते। अतएव एतादृश वातादि प्रत्यक्षयोग्यगुणयुक्त मध्यमपरिमाणविशिष्ट होकर भी सर्वदा सर्वत्र प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। जहां वृक्ष से गोंद जैसा स्वयं ही

सर्वत्र प्रत्यक्षेण न ज्ञायन्ते, यत्र तु स्वयमेव वृक्षनिर्यासवत् कफादिः पृथक्भूतस्तिष्ठति तत्र जिह्वामूलामाशयादौ प्रत्यक्षेणैव गृह्यते।

पित्तस्योत्पत्तिमाह:—

परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥

अस्यार्थः—लालारसेन क्लेदकश्लेष्मणा च संजातस्य मधुरपाकस्यानन्तरमपि पच्यमानस्यामाशयिकरसस्थलावणिकाम्लेनातितीव्रेणाम्लरसेन पैत्तिकेनाधिकृतरं पच्य-

---

पृथक होकर रहता है (जैसा जिह्वा-मूल, आमाशयादि में श्लेष्मा रहता है) वहां प्रत्यक्ष भी होता है।

पित्त की उत्पत्ति बताते हैं 'परन्तु' इत्यादि जिसका अभिप्राय यह है कि—लाला रस और क्लेदक श्लेष्मा से जो मधुर पाक होता है उसके अनन्तर भी अन्न का जो पाक होता रहता है, अर्थात् आमाशयिक रस में अवस्थित लावणिकाम्ल से जो अति तीव्र है और पित्त से जिसकी उत्पत्ति होती है (यहां पित्त शब्द से पित्त कोष में रहने वाले पित्त को नहीं समझना चाहिए) भुक्त द्रव्य

मानस्य दाहकेन लावणिकाम्लेन विदग्धस्यामाशयाद् ग्रहणीं प्रस्थातुमुद्यतस्यान्नद्रव्यस्याम्लभावतः स्वकीयेनाम्लरसेन, आमाशयिकाम्लरसेन चाम्लतरादन्नादच्छं पित्तमुदीर्यते—भुक्तद्रव्यात् पित्तोपादानभूता अवयवाः पृथग् भूत्वा रसेन सह सम्मिलितास्तिष्ठन्ति । तदानीं तत्र पित्तगुणाः सर्वे न दृश्यन्ते, रसस्य स्वाग्निना सम्यक् पाकमाप्तस्य पञ्चदिनानन्तरं त्रिधा विभक्तस्य

में जो परिवर्तन होता रहता है उस समय अति तीव्र दाहक लावणिकाम्ल के संयोग से विदग्ध भुक्त द्रव्य में जो आमाशय से ग्रहणी में जाने के लिए उद्यत है अत्यन्त अम्लता उत्पन्न हो जाती है । अर्थात् भुक्त द्रव्यके अम्लरस और आमाशयिक अम्ल रस इन दोनों से अन्न अत्यन्त अम्ल बन जाता है । इस अत्यन्त अम्ल अन्न से अच्छपित्त उत्पन्न होता है । अर्थात भुक्त द्रव्य से पित्त के उपादानभूत अवयव निकल कर रस में मिलित होकर रहते हैं । उस समय उसमें पित्त के सब गुण मालूम नहीं पड़ते । रसाग्नि से रस का सम्यक् पाक होने से पांच दिन के बाद वह रस स्थूल, मल और प्रसाद नामक तीन भागों में विभक्त होता है, उनमें से प्रसाद भाग रक्त धातु में (यहां रक्त धातु शब्द से

प्रसादभागाद्रक्तमुत्पद्यते तस्यापि रक्तस्य स्वाग्निना सम्यक् पक्वस्य पञ्चदिवसानन्तरं त्रिधा विभक्तस्य मलभागात् पित्तं संजायते।

आमाशये तु भुक्तद्रव्यात् केवलं पित्तोपादानं संगृहीतं भवति तस्मिन् पित्तस्य रसवर्णादयो न व्यक्ताः सन्तीति पित्तस्याच्छविशेषणं प्रयुक्तं तदेवाच्छं पित्तं कालेन रसरक्ताग्निपक्वं सम्पूर्णलक्षणवत् पित्तं संजायते। एतदपि धातु-

---

आधुनिक वर्णित शोणित को नहीं समझना चाहिए क्योंकि यह तो रस रक्तादि का मिश्रण है शुद्ध रक्त धातु नहीं है, रक्तवर्ण होने से इसमें रक्त का भ्रम होता है) परिणत होता है फिर रक्ताग्नि से उसका सम्यक् पाक होता रहता है और पांच दिन के बाद यह भी स्थूल, मल और प्रसाद नामक तीन भागों में विभक्त होता है। रक्त के इस मल भाग को पित्त कहते हैं। आमाशयमें तो भुक्त द्रव्योंसे केवल पित्त का उपादान संगृहीत होता है उसमें पित्त के रस वर्ण आदि व्यक्त रूप में नहीं रहते, अतः उस पित्त को अच्छपित्त रूपसे उल्लेख किया गया है। (निर्मल जल के समान वर्णहीन पदार्थ को अच्छ कहते हैं) वह ही अच्छ पित्त बहुत देर तक रसाग्नि और रक्ताग्नि से पक्व होकर सम्पूर्ण लक्षणयुक्त पित्त बन

स्वरूपं पित्तमुत्पद्यते। तद्धातुभूतं पित्तं यदा विकृतिकारण-मासाद्य विकृतं भवति तदा दोषसंज्ञां मलसंज्ञां वा लभत इति। सर्वमन्यत् कफवर्णने प्रपञ्चितमिति पुनर्नोल्लिख्यते वातस्योत्पत्तिमाहः—

पक्वाशयन्तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥ इति॥

अस्यायमर्थः—मधुरपाकात् कफोऽम्लपाकाच्च पित्तमुत्प-

जाता है। यह पित्त भी धातु स्वरूप पित्त ही बनता है। वह धातुभूत पित्त जब विकृति के कारण से विकृतियुक्त हो जाता है तो दोष संज्ञा को प्राप्त करता है उससे भी अधिक विकृत होकर मल संज्ञाको प्राप्त करता है। और सारी बातें कफके वर्णन में जैसीं लिखी गई हैं वैसी पित्त के लिए भी समझनी चाहियें पुनः इन बातों का उल्लेख करना अनावश्यक है।

वायु की उत्पत्ति वर्णन करते हुए कहते हैं कि भुक्त द्रव्य जब पक्वाशय में उपस्थित होता है और वह्नि (जाठराग्नि) से जब उसके रस का शोषण होकर परिपिण्डित पक्व होता रहता है उस समय अन्न के कटु हो जाने के कारण उससे वायु उत्पन्न होता है। इसका अभिप्राय यह है कि आमाशय में अन्न के मधुर पाक

द्यते, आमाशये क्षुद्रान्त्रे च पोषकद्रव्याणां रसरूपत्वमापन्नानां शोषणमपि यथोचितं संजायते क्षुद्रान्त्रमतिक्रम्य पक्वाशयमनुप्राप्तेऽन्ने स्नेहमाधुर्यादि कफकारकाणामम्लादिपित्तकारकाणां चातिन्यूनता सम्पद्यते। किं बहुना। तरलस्य रसस्य शोषणात् अन्नद्रव्यं परिपिण्डितं सम्यक् पक्वं शोषितसारंच संजायते तादृशस्यान्नस्य कटुभावतो रूक्षताजनककटुत्वस्याविर्भावात्तत्र पक्वाशये भुक्तद्रव्यादेव

से श्लेष्मा और अम्ल पाक से पित्त उत्पन्न होता है। अन्न के अन्दर का पोषक द्रव्य जो रस रूप में परिणत हुआ उसका शोषण भी आमाशय क्षुद्रान्त्र आदि में यथोचित रूप में होता रहता है। भुक्तद्रव्य क्षुद्रान्त्र को अतिक्रम करके जब पक्काशय अर्थात बृहदन्त्र में पहुँचता है उस समय उसमें स्नेह माधुर्य आदि कफ कारक अंश तथा अम्ल लवणादि पित्त कारक अंश की अत्यन्त अल्पता हो जाती है। अधिक क्या कहें, अन्न द्रव्य से तरल रस का शोषण होने से वह अन्न द्रव्य परिपिण्डित-सम्यक पक्व और शोषित सार (जिसमें से सार भाग का शोषण हो गया है) हो जाता है। इस प्रकार अन्न के कटुभाव से अर्थात् रूक्षतासम्पादक कटुत्व के आविर्भाव से उस पक्काशय में

वायुरुत्पद्यते । तत्रोत्पन्नश्च वायुः सर्वशरीरं व्याप्नोति अतएव पक्वाशयो वायोर्मूलमिति कथ्यते । अत्रापि धातुभूतवायुरुत्पद्यते स एव धातुभूतवायुः प्रकोपककारणादिना यदा विकृतः सन् दुःखकारकः सम्पद्यते तदैव दोषसंज्ञां लभते । यदा चातिदुष्टः शरीरानुपयोगी स्यात्तदा मलसंज्ञां लभते। रूपहीनत्वादसौ वायुश्चक्षुषा द्रष्टुं न शक्यते किन्तु स्पर्शेनानुभवितुं शक्यते । सर्वमन्यत् कफादिवदवगन्तव्यम् ।

भुक्त द्रव्य से ही वायु उत्पन्न होता है । पक्वाशय में जो वायु उत्पन्न होता है वह ही सारे शरीर में फैलता है अतएव पक्वाशय को वायु का मूल स्थान समझा जाता है । यहां भी धातुभूत वायु ही उत्पन्न होता है वह धातुभूत वायु जब प्रकोपक कारण से प्रकुपित होकर दुःख का कारण बन जाता है तो दोष कहलाता है । जब अत्यन्त दुष्ट होकर शरीर के लिए अनुपयोगी बन जाता है तो मल संज्ञा को प्राप्त करता है । वायु में रूप न होने से चक्षुद्वारा उसको प्रत्यक्ष नहीं कर सकते किन्तु स्पर्श द्वारा वायु का प्रत्यक्ष भी हो जाता है । और सब बातें कफादि के वर्णनमें जैसी लिखी गई हैं यहां भी वैसी ही समझनी चाहिए ।

भुक्तद्रव्याद्यथा रसादिधातूनां तथा कफादि-धातूनामुत्पत्तिरभिहिता। भोजनादृतेऽपि शरीरे वातादीना-माप्यायनं प्रतिक्षणं संजायते। तथाहि—श्वासमार्गेण परिगृही-ते वायौ ये वायवीया भागास्ते वातमाप्याययन्ति। ये तैजसा भागास्ते पित्तं, ये पार्थिवा ये च जलीया भागास्ते कफमिति। तस्मिन्नेव वायौ यदि वार्षिकवायाविव जलीयभागाधिक्यं तेन श्लेष्मणः पुष्टिर्यदि ग्रैष्मिकवायाविव तेजस आधिक्यं ततस्तेन पित्तवृद्धिर्यदि हैमन्तिकवायाविव रूक्षताधिक्यं ततो

भुक्त द्रव्यों से जैसी रसादि धातु की उत्पत्ति होती है ऐसी ही कफादि धातुओं की उत्पत्ति कही गई है। भोजन के बिना भी शरीर में वातादि का आप्यायन (पुष्टि) प्रतिक्षण में होता रहता है। जैसे कि—श्वासमार्ग द्वारा जिस वायु को ग्रहण किया जाता है उसमें जितने वायवीय अंश हैं वे शरीरस्थ वायु को पुष्ट करते हैं। उसमें जो तैजस भाग है वह पित्त को बढ़ाता है तथा उसमें जो पार्थिव या जलीय भाग है वह कफ को बढ़ाता है। उस वायु में यदि वर्षाकालीन वायु के समान जलीय भाग अधिक हो तो उससे कफ की वृद्धि होती है। यदि उस वायु में ग्रीष्मकालीन वायु के समान आग्नेय भाग अधिक हो तो उससे पित्त की वृद्धि

वातवृद्धिः संजायते। अन्नप्रणाली श्वासप्रणाली च वातादिपोषकपदार्थप्रवेशद्वारभूते किन्तु त्वगादिमार्गेणापि सूर्यकिरणादयो देहाभ्यन्तरं प्रविश्य पित्तादीनाप्याययन्ति। तत्रायं विशेषः—भुक्तद्रव्याच्छरीरधारको वातादिरेवोत्पद्यते किन्तु श्वासादिमार्गेण प्रविष्टानां वायुतेजोजलादीनां यावद्देहधारकवातपित्तश्लेष्मरूपा परिणतिर्न स्यात् तावत्ते वातादयः शरीरोपयोगिनो न भवन्ति, तस्मादेव चरकसंहितायां वातकला-

होती है यदि उस वायु में शीतकालीन वायु के समान रूक्षता अधिक हो तो उससे वायु की वृद्धि होती है।

वातादि के पोषक पदार्थों को शरीर के अन्दर प्रवेश कराने के लिए अन्नप्रणाली और श्वास प्रणाली प्रधान द्वारस्वरूप हैं किन्तु त्वचा आदि द्वारा भी सूर्य-किरणादि शरीर के अन्दर प्रवेश करके पित्तादि को बढ़ाते हैं। इसमें इतना विशेष है कि भुक्त-द्रव्य से तो शरीर-धारक वातादि की उत्पत्ति होती है किन्तु श्वास-प्रणाली आदि द्वारा शरीरमें जो वायु, तेज, जलादि प्रवेश करते हैं वे जब तक शरीर-धारक वात, पित्त और कफ रूप में परिवर्तित नहीं होते तब तक वे वातादि भौतिक द्रव्य शरीरधारण के उपयोगी नहीं बनते। इसीलिए चरकसंहिता के वात-कला-कलीया-

कलीये शरीराशरीरचरस्य वायोर्गुणकर्माणि पृथक् पृथगेव वर्णितानि । तथा "ग्निरेव पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति" तथा "सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति" इति । बाह्यवाय्वग्निसोमेभ्यः शारीरवायुपित्तकफानां भेदः स्पष्टमेवोपदिष्टमिति । शास्त्रेषु वातादीनां ये गुणा रूक्षतोष्णतास्निग्धतादयो वर्णितास्ते भोज्यपेयादिष्वपि दृश्यन्ते किन्तु गुणिनं विहाय गुणा न स्थातुं शक्नुवन्ति इति न्यायेन यत्र यत्र

ध्याय में शरीरचर वायु और अशरीरचर वायु के गुण कर्मादि पृथक पृथक रूपमें वर्णित हुए हैं और यह भी लिखा है कि अग्नि ही शरीर में पित्त के अन्दर रहकर अकुपित अवस्था में शुभ तथा कुपितावस्था में अशुभ करता है, ऐसे ही सोम ही शरीर में श्लेष्मान्तर्गत होकर अकुपित अवस्था में शुभ तथा कुपितावस्था में अशुभ करता है। इस प्रकार से बाह्य वायु अग्नि जलादि से शरीरस्थ वायु, पित्त और कफका भेद स्पष्ट रूप से उपदेश किया गया है।

वायु में रूक्षतादि, पित्त में उष्णतादि तथा कफ में स्निग्धतादि जो जो गुण शास्त्र में वर्णित हुए हैं वह सब गुण भोज्य पेयादि पदार्थों में भी विद्यमान देखे जाते हैं। गुणवान् को छोड़कर गुण

वातादिगुणा दृश्यन्ते तत्र तत्र वातादीनामपि सूक्ष्मा अंशास्तिष्ठन्तीति वाच्यं त एव भोज्यपेयादितः पृथक् भूत्वा वातादिषु मिलितास्तान् वर्धयन्ति। तदेव श्रीमता चरकाचार्येणोक्तं "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारण" मिति। श्रीमता सुश्रुताचार्येणाप्युक्तम्—

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि मानवः।
स्वयोनिवर्द्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति॥ इति॥

(सू० अ० १५)

नहीं रह सकता है, इस नियम के अनुसार जहां जहां वातादि के गुण देखे जाते हैं वहां वहां वातादि के सूक्ष्म अवयव भी हैं, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। वह सूक्ष्म अवयव ही भोज्यपेयादि से पृथक होकर वातादि के साथ मिलते हैं जिससे वातादि को वृद्धि होती है। इस बात को ही श्रीमान चरक जी ने लिखा है कि सर्वदा सर्वभावों के लिए समान पदार्थ ही वृद्धि के कारण हैं। श्रीमान सुश्रुताचार्यजी ने भी सूत्रस्थान के १५ वें अध्यायमें लिखा है कि जिसके दोष का क्षय हुआ, धातु का क्षय हुआ, मल का क्षय हुआ अथवा बल का क्षय हुआ है ऐसा मनुष्य "स्वयोनिवर्धक" अन्न और पानीय की इच्छा करता है। यहां स्वयो-

अत्र स्वशब्देन वातादयस्ते योनिरुपादानकारणं येषां रूक्षतोष्णतास्निग्धतादीनां तेषां वर्द्धनं यदन्नपानं तत्प्रकांक्षति रोगीति सिद्धान्ते वाताद्यधिकरणकगुणानां वृद्धिर्वाताद्यधिकरणकगुणैरेव सम्भवति । तत्रापि वातादीनां ये ये गुणाः शास्त्रेषु वर्णितास्तेषामालोचने कृते पांचभौतिकत्वं सर्वेषामेव वातादीनां विज्ञायते ततो यथा शर्करातिन्तिडीलवणमरिचादीनां सर्वेषामेव प्रपानकरसजनकत्वं यथा च शर्करादीनां मध्ये कस्यचिदधिकमात्रस्य प्रयोगा-

---

निवर्धक शब्द का अभिप्राय यह है कि "स्व शब्द से तो वातादि को समझना चाहिए वे जिनकी योनि अर्थात् उपादान कारण हैं ऐसे रूक्षतादि, उष्णतादि और स्निग्धतादि के वर्धक" अन्न और पानीय को रोगी चाहता है । इस प्रकार सिद्धान्त में भी विचार करना है कि वातादि जिन गुणों के आश्रय हैं उन गुणों की वृद्धि वैसे ही गुणों से हो सकती है और यह भी सोचना है कि वातादि के जो जो गुण शास्त्र में वर्णित हुए हैं उनकी आलोचना करने से मालूम पड़ता है कि वातादि सब ही पांचभौतिक हैं। तब तो जैसे शर्करा, इमली, नमक, मिर्च आदि सब ही प्रपानक (ठण्डाई) के रस को उत्पन्न करने में कारण हैं तथा शर्करादि में

रसविशेषस्याधिक्यं प्रपानके संजायते तथैव पांचभौतिकेषु वातादिषु ये ये गुणाः सन्ति तत्तद्गुणाधिकरणभूतानां भौतिकानामाधिक्येनोपयोगात् तत्तद्गुणाभिवृद्धिः सुतरामेव संजायते। एवं गुणवैषम्यजनकानां भोज्यपेयादीनामुपयोगाद्विषमगुणा अपि वातादयः संजायन्ते। तथा चोक्तः—

ये ये गुणाः प्रदृश्यन्ते वातादीनां स्वभावतः।
तद्गुणानामधिष्ठानं वातादिकारणं मतम्॥

से किसी एक द्रव्य को अधिक मात्रा में मिलाने से प्रपानक में रस विशेष का आधिक्य हो जाता है, ऐसे ही पांचभौतिक वातादि में जो जो गुण विद्यमान हैं उन गुणों के अधिकरणभूत भौतिकों के अधिक उपयोग से उन गुणों की वृद्धि भी अवश्य ही हो जाती है। इस प्रकार गुण वैषम्यजनक भोज्य पानीयादि के उपयोग से विषमगुणविशिष्ट वातादि भी उत्पन्न होते हैं। कहा भी जाता है कि—

वात पित्त और कफ़ में स्वभाव से ही जो जो गुण देखे जाते हैं उन गुणों को बढ़ाने वाला ही वातादि का बढ़ाने वाला कहलाता है। वातादि में पांचों भूतों के गुण विद्यमान हैं इसलिए वातादि

पञ्चानामपि भूतानां गुणा वातादिषु स्थिताः ।
पांचभौतिकता तस्मात्तेषामपि भवेद्ध्रुवम् ॥
पांचभौतिकता तद्वद्भोज्यादीनां सुनिश्चिता ।
पार्थिवः पार्थिवानंशान् जलीयांशो जलीयकान् ।
कुर्वन्ति भौतिकान्येवं स्वकीयांशान् निरन्तरम् ॥
वातादीनां समुत्पत्तिः स्वसमानात् प्रजायते ।
भूतं न कारणं तेषां भौतिकं कारणं ध्रुवम् ॥

इति वातादीनामुपादानोत्पत्त्यादिवर्णनाख्यः सप्तमोऽध्यायः।

भी पांचभौतिक ही हैं, और भोज्य पानीयादि द्रव्य भी पांचभौतिक ही हैं, उनमें से पार्थिव अंश वातादि के पार्थिव अंश को बढ़ाता है ऐसे ही जलीयादि अंश जलीयादि अंश को बढ़ाता रहता है। इस प्रकार सब ही भौतिक अंश अपने समानजातीय अंश को बढ़ाते हैं। अपने अपने समानगुणविशिष्ट भौतिक पदार्थ से वातादि दोष की उत्पत्ति होती है फिर भी भूत से किसी की उत्पत्ति न होकर भौतिक से ही उत्पत्ति होती है। (भूत से तो द्व्यणुकादि क्रम से महाभूत ही उत्पन्न होता है)

वातादि के उपादान और उपादान से वातादि की उत्पत्ति
का वर्णन नामक सप्तम अध्याय समाप्त ।

अष्टमोऽध्यायः

वातादीनां गुणाः कर्माणि च—

तत्र वातगुणाश्चरकेणैवमुक्ताः—

"रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः"।

एवंगुणो वायुरतो वायौ रूक्षतादयो गुणा ज्ञेयाः॥

रौक्ष्यम्—

वायौ रूक्षता तु स्निग्धताकारकस्य जलस्याल्पत्वादवगन्तव्या। सेयं रूक्षता वातप्रधानेषु शरीरेषु शरीरावयवेषु

वातादि के गुण और कर्म—

वायु के गुण चरक जी ने ऐसे लिखे हैं कि—वायु रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल (चञ्चल) विशद और खर है। यहां वायु को रूक्षादि शब्दों से निर्दिष्ट किया है जिससे समझा जाता है कि वायु में रूक्षतादि गुण हैं।

अब एक एक करके सब गुणों की आलोचना की जाती है—

रूक्षता—वायु में रूक्षता होने का कारण यह है कि इसमें स्निग्धताकारक जल की अल्पता है। यह रूक्षता वातप्रधान शरीर

वा प्रत्यक्षमेवोपलभ्यते। वायुनाशकस्नेहनक्रियया चोपशाम्यति।

शैत्यम्—

शीतेन वर्द्धनाद्वायोरुष्णेन शमनात्तथा

वातज्वरे चोष्णकामितादिलिंगदर्शनाद्वायोः शैत्यं सुतरामेव विज्ञायते, वायुभूतस्यानुष्णाशीतत्वेऽपि पांचभौतिकस्य शारीरवायोः शैत्यं न विरुध्यते।

लघुता—

वायुभूतस्य लघुत्वात् तत्प्रधानस्य वातस्यापि लघुता वातप्रधानेषु दृश्यते। गुरुभिश्च द्रव्यैरुपयुक्तैर्वातजनिता

में अथवा वातप्रधान शरीरावयव में प्रत्यक्ष से ही मालूम पड़ती है तथा वायुनाशक स्नेहन क्रिया से शान्त हो जाती है।

शैत्य—शीत से वायु की वृद्धि और उष्ण से वायु की शान्ति प्रत्यक्षसिद्ध है। वातज्वरादि में भी उष्ण सेवन की इच्छा होती है जिससे अच्छी तरहसे जाना जाता है कि वायु शीत है। यद्यपि वायुभूत में अनुष्णाशीत स्पर्श माना जाता है तथापि शरीरस्थ वायु जो पांचभौतिक है उसमें शैत्य रहना विरुद्ध नहीं है।

लघुता—वायुभूत में गुरुता नहीं है अतः वह लघु है। वायु-

लघुतापि हीयते तस्माल्लघुत्वमेव वातस्य विज्ञायते ।

सूक्ष्मता—

सूक्ष्मः सूक्ष्मातिसूक्ष्मेषु स्रोतःसु गन्तुमर्हति ॥
सूक्ष्मत्वं मारुतस्यैवमनया परिभाषया ॥
अवयवेषु सूक्ष्मेषु वायोर्गतिः प्रदृश्यते ।
तामृते पोषकं द्रव्यं कथं तत्र प्रपद्यते ॥
तस्मात् सूक्ष्मत्वमेवास्य विद्वद्भिः परिकथ्यते ।

भूतप्रधान शारीरवायु भी इसलिए लघु है। यह लघुता वायु-प्रधान शरीर अथवा शरीरावयव में प्रत्यक्षसिद्ध है। गुरु पदार्थों के सेवन से वायु की लघुता घट जाती है जिस से जाना जाता है कि वायु में लघुता है।

सूक्ष्मता—आयुर्वेद की परिभाषा के अनुसार जो द्रव्य, सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में जा सकता है उसको सूक्ष्म कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार वायु में भी सूक्ष्मता मानी जाती है क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों में भी वायु की गति देखी जाती है। यदि वहां तक वायु की गति न होती तो पोषक द्रव्य वहां तक नहीं पहुँच सकता था। इससे सिद्ध होता है कि वायु सूक्ष्म है। सूक्ष्मतागुणयुक्त मद्य विष आदि से भी वायु की वृद्धि होती

सूक्ष्मैर्मद्यादिभिर्यस्माद् वायोर्वृद्धिः प्रदृश्यते ॥
एतस्मादपि सूक्ष्मत्वं वायोरिति प्रकथ्यते ॥

चलत्वम्—

चलत्वं चालकत्वं च वायोरेव मतं यतः ।
वायुः संज्ञा ततस्तस्य "वा" धातोरुपजायते ॥
यत्र वृद्धिङ्गतो वायुर्गतिस्तत्राधिका भवेत् ।
तस्माच्चलत्वमेवास्य नान्यस्य कस्यचिन्मतम् ॥
अयमेव गुणो वायोः प्रधानः परिगण्यते ॥

है इससे भी वायु में सूक्ष्मता सिद्ध होती है ।

चलत्व—क्योंकि चलना और दूसरे को चलाना वायु का स्वभाव है अतएव गत्यर्थक "वा" धातु से वायु नाम निष्पन्न हुआ है । जिस शरीर में अथवा शरीरावयव में वायु की वृद्धि होती है उसमें गति भी बढ़ जाती है । इसलिए शरीर में केवल वायुको ही चलाने वाला और चलने वाला माना जाता है । किसी और द्रव्य में स्वाभाविक गति नहीं मानी जाती है किन्तु वायु ही सबको चलाने वाला है, ऐसा माना जाता है । वायु के इस गुणको ही प्रधान गुण मानते हैं ।

विशदत्व—पिच्छिलता के विरुद्ध गुण को विशदता कहते

विशदत्वम्—

विशदत्वमपैच्छिल्यं वायोरेव गुणो यतः ।
पिच्छिलत्वं जलाधिक्याद्वाताधिके न तद्भवेत् ॥
वाताधिक्यात्तथा काये विशदत्वं प्रदृश्यते ।
वातसंशमकात् स्नेहात्तस्य नाशोऽपि दृश्यते ।
विशदत्वं ततो वायोर्गुणो बुधैः प्रकथ्यते ॥

खरत्वम्—

वाताधिके यतः काये खरत्वं परिदृश्यते ।
वायुसंशमकात्तस्य नाशोऽपि दृश्यते यतः ॥

हैं क्योंकि जलकी प्रधानता से पिच्छिलता उत्पन्न होती है। वायु-प्रधान वात में पिच्छिलता नहीं हो सकती अतएव विशदता वायु का ही गुण है। जिस अवयव में अथवा जिस शरीर में वायु बढ़ जाता है उसमें विशदता भी प्रत्यक्ष होती है तथा वायु शान्ति-कारक स्नेह से विशदता भी शान्त हो जाती है अतएव विशदता को वायु का गुण माना जाता है।

खरत्व—क्योंकि जिस शरीर में या जिस अवयव में वायु अधिक है उसमें खरत्व प्रत्यक्षसिद्ध है तथा वायुनाशक द्रव्य से खरत्व का नाश भी हो जाता है अतः खरत्व भी वायु का ही

तस्मात् खरत्वसंज्ञोऽपि वायोरेव गुणो मतः ।
पांचभौतिकवायौ स तोयाल्पत्वात् प्रजायते ॥

पित्तस्य गुणाः—

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ॥ इति ॥

सस्नेहता—पित्तस्याग्नेयत्वेऽपि तत्र सांसिद्धिकद्रवत्वादिजलीयधर्माणामपि दर्शनादग्निजलप्रधानं पित्तमिति परिगण्यते । तत्राग्नेयस्यास्निग्धत्वेऽपिजलसम्बन्धा-

---

गुण है। यह गुण भी पांचभौतिक वायु में जल की अल्पता से उत्पन्न होता है।

पित्त के गुण—चरक संहिता में लिखा है कि पित्त ईषत् स्नेहयुक्त, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु है। क्योंकि पित्त इस प्रकार का है अतएव पित्त में सस्नेहता, उष्णता, तीक्ष्णता द्रवता, अम्लता, सरता और कटुता गुण हैं। एक एक करके हम गुणों की आलोचना करते हैं—

सस्नेहता—पित्त अग्निगुणप्रधान है किन्तु इसमें सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्वादि जलीय धर्म भी विद्यमान हैं जिनको देखकर पित्त में अग्नि और जल की प्रधानता मानी जाती है। आग्नेय पित्त स्निग्ध नहीं हो सकता था किन्तु जल के सम्पर्क

त्तत्र कथंचित् स्निग्धत्वं संजायते तस्मादेवोक्तं सस्नेहमीषत् स्नेहयुक्तमित्यर्थः । स्नेहस्यात्यल्पत्वात् सुश्रुताचार्येण पित्तं रूक्षमेव वर्णितम् ।

उष्णता—पित्तस्यायमेव सर्वप्रधानो गुणः। तैजसस्य पित्तस्यैवोष्णत्वं नान्यस्य कस्यचित् । श्रीमता सुश्रुतेन वर्णितम्–'नखलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यत' इति। ये खलु चरकाचार्येण धात्वग्निभूताग्निशब्देनवर्णितास्तेऽपि शरीरेपित्तरूपेणैवावस्थिताः सर्वत्र तापं जनयन्तो

से उसमें कुछ स्निग्धता हो जाती है अतएव सस्नेह अर्थात् ईषत् स्नेह-युक्त, लिखा है पित्त में स्नेह बहुत अल्प है इसलिये श्रीमान् सुश्रुताचार्य ने इसको रूक्ष करके वर्णन किया है।

उष्णता—पित्त का यह ही सर्वप्रधान गुण है । शरीर में तैजस पित्त ही उष्ण है और कुछ उष्ण नहीं है । श्रीमान् सुश्रुताचार्य ने लिखा है कि पित्त के अतिरिक्त और कोई अग्नि शरीर में मालूम नहीं पड़ती है। श्रीमान् चरकाचार्य ने सात धात्वग्नि (रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोऽग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि और शुक्राग्नि) तथा पांचभूताग्नि (भौमाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि और आकाशीयाग्नि)

विशिष्टाः पाकक्रिया जनयन्ति याः खलु वैज्ञानिकै रासायनिकपरिवर्त्तनान्युच्यन्ते। तदेव तेनोक्त 'मग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। पित्तस्य साम्यादेव शरीरे तापसाम्यं पित्तवर्धकानामुपयोगाद्यदा पित्तं वर्धते शरीरे तदा तापाधिक्यं जायते पुनः पित्तनाशकद्रव्याणामुपयोगात् यथा यथा पित्तशान्तिस्तथा तथा तापाल्पता जायते। उष्णत्वं शरीरस्य सर्वत्रैव दृश्यते। सूक्ष्मादपि सूक्ष्मं द्रव्यं शरीरे नोष्णताहीनं दृश्यते, नवोष्णताहीनं

और एक पाचकाग्नि इस प्रकार से तेरह प्रकार की अग्नियों का वर्णन किया है। वे सबही अग्नि शरीरमें पित्त रूपमें ही रहती हैं और ताप उत्पादन करती हुई विशिष्ट २ पाकक्रिया करती रहती हैं। इन विशिष्ट पाकों को आधुनिक वैज्ञानिक रासायनिकपरिवर्तन नाम से उल्लेख करते हैं। चरक जी ने लिखा भी है कि अग्नि ही शरीर में पित्त के अन्दर रह कर अकुपित अवस्था में शुभ तथा कुपितावस्था में अशुभ करती है। पित्त की समता से शरीर में ताप की समता रहती है। पित्तवर्धक द्रव्यादि के सेवन से जब शरीर में पित्त बढ़ता है तो शरीर का ताप भी बढ़ जाता है। फिर पित्त-नाशक द्रव्यादि के सेवन से जैसे २ पित्त घटता

किंचिदपि जीवितशरीरस्यांगं घटकद्रव्यं वा कल्पयितुं शक्यते। तस्मादेव पित्तस्य व्यापकत्वं मन्यते विद्वद्वृन्दैरिति। सूक्ष्मोऽपि कोषस्तापरहितस्तदानीमेव विनाशमेतीति यथोचित तापमन्तरेण कोषाणां पोषकद्रव्यप्राप्तिरपि न सम्भवति। एवंविधस्य तापस्य गुणत्वाद् द्रव्याश्रयित्वं, तापाधिकरणं द्रव्यं पित्तरूपेणैव शरीरं धारयति तस्मात्पित्तस्य तापाश्रयस्य

है वैसे २ ताप भी घट जाता है।

शरीर के सब ही स्थानों में उष्णता पाई जाती है। शरीरस्थ सूक्ष्म से सूक्ष्म द्रव्य भी ताप-हीन नहीं देखा जाता है। उष्णता-रहित कोई भी द्रव्य जीवित शरीर का अवयव या घटक बन सकता है, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसलिये सब ही विद्वान् पित्त को सारे शरीर में व्यापक मानते हैं। एक छोटा सा कोष भी ताप-रहित हो तो तत्काल मर जाता है। यथोचित ताप न हो तो कोषों के पोषक पदार्थों को प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इस प्रकार-अत्यावश्यक ताप भी गुण पदार्थ है जो किसी द्रव्य के आश्रय बिना नहीं रह सकता है। उस ताप का अधिकरणस्वरूप द्रव्य ही पित्त है जो सारे शरीर में रहकर शरीर को धारण करता है। जैसे उष्ण जल के अन्दर रहने वाली अग्नि को स्पर्शनेन्द्रिय

प्रत्यक्षयोग्यता स्पर्शनेन्द्रियेणोष्णसलिलस्थितस्यैवाग्नेरिति स्थितम् ।

तीक्ष्णता—

आग्नेयानां हि द्रव्याणां तीक्ष्णतैव प्रदृश्यते ।
तीक्ष्णत्वमग्निजन्यत्वात्पित्तस्यापि भवेद् ध्रुवम् ॥
तीक्ष्णद्रव्योपयोगाच्च सदा पित्तं विवर्धते ।
मृदुद्रव्योपयोगाच्च पित्ततैक्ष्ण्यं प्रशाम्यति ॥
तस्मात् पित्तस्य तीक्ष्णत्वं सर्वै रेव प्रकथ्यते ॥

द्रवत्वम्—

तैजसं केवलादग्नेर्नैव पित्तं प्रजायते ।

द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं ऐसे ही सारे शरीर में रहने वाले पित्त को भी स्पर्शनेन्द्रिय से प्रत्यक्ष कर सकते हैं ।

तीक्ष्णता—आग्नेय द्रव्य तीक्ष्ण ही होता है । पित्त भी आग्नेय द्रव्य है अतः इसमें भी तीक्ष्णता अवश्य ही होगी । तीक्ष्ण द्रव्यों के उपयोग से पित्त सर्वदा ही बढ़ता है तथा मृदु (तीक्ष्ण से विपरीत) द्रव्योंके उपयोग से पित्तकी तीक्ष्णता भी कम होजाती है इसलिये सबही विद्वान् मानते हैं कि पित्त में तीक्ष्णता है ।

द्रवत्व—पित्त तैजस है किन्तु यह केवल अग्नि से उत्पन्न

पांचभौतिकपित्तेऽपि तेजोजलप्रधानता ॥
यथौष्ण्यं तेजसस्तत्र जलस्य द्रवता तथा ।
उष्णे तोये यथा वह्निर्जलं च मुख्यतो भवेत् ॥
पित्तस्य तैजसो भागो यदा संपरिवर्धते ।
तीक्ष्णोऽग्निर्जायते तस्मान्मन्दाग्निस्तु विपर्यये ॥

अतएवोक्तम्—

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षारद्यैः पित्तमुल्वणम् ।
आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्त मिवानलम् ॥ इति ॥

नहीं होता है । पांचों भूत से उत्पन्न होने वाले पित्त में तेज और जल की प्रधानता है । पित्त में जैसे तेज का उष्णत्व है वैसे ही जल की सांसिद्धिक द्रवता भी है । जैसे उष्ण जल में अग्नि और जल दोनों प्रधान रूप में रहते हैं ऐसे ही पित्त में आग्नेय और जलीय भाग प्रधान हैं । पित्त का आग्नेयांश बढ़ने से पाचकाग्नि तीक्ष्ण हो जाती है किन्तु पित्त का जलीय भाग बढ़ने से जठराग्नि मन्द पड़ जाती है । इसीलिये शास्त्र में लिखा है कि जैसे उष्ण जल वह्नि-युक्त होकर भी वह्नि को प्लावित करके बुझा देता है ऐसे ही कटु अजीर्ण विदाही अम्ल-क्षार आदि के सेवन से पित्त का जलीय भाग बढ़ कर पाचक अग्नि रूप पित्त की शक्ति

छर्द्यादि निर्गते पित्ते द्रवत्वं परिलक्ष्यते ।
द्रवस्य रक्तधातोर्हि मलं पित्तं प्रकीर्तितम् ॥
तस्मादपि द्रवं पित्तं विद्वद्भिः परिगण्यते ॥

अम्लत्वं कटुकत्वं च—

अम्लेन कटुना चापि पित्तं यस्मात् प्रवर्धते ।
निर्गतेऽपि तथा पित्ते कट्वम्लौ भवतो रसौ ॥
तस्मादम्लं भवेत् पित्तं कटु चापि भवेत्तथा ॥

सरत्वम्—

तेजोजलाधिकं पित्तं सरमेव भवेद् ध्रुवम् ।

को नष्ट कर देता है जिससे अजीर्ण रोग हो जाता है । वमनादि में जो मल रूप पित्त निकलता है उसमें द्रवत्व तो प्रत्यक्ष से ही मालूम पड़ता है । पित्त जिसका मल है वह रक्त धातु भी द्रव पदार्थ ही है इन कारणों से विद्वानों की सम्मति है कि पित्त द्रव (तरल) है ।

अम्ल और कटुत्व—क्योंकि अम्लरस और कटुरस से पित्त की वृद्धि होती है तथा जो मलभूत पित्त वमनादि द्वारा निर्गत होता है उसमें अम्ल और कटु रस मालूम पड़ता है अतः पित्त को अम्ल और कटु माना जाता है ।

तरलं निम्नगं सर्वं सर्वैं रेवावलोक्यते ॥
तस्मात् पित्तज्वरार्तानामतीसारोऽपि दृश्यते ॥

श्लेष्मगुणाः—गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः गुर्वादयः शब्दा गुणे गुणिनि च शास्त्रकारैः प्रयुक्ता दृश्यन्ते ।

गुरुः—पांचभौतिकस्याऽपि पृथ्वीजलाधिकस्य सौम्यस्य श्लेष्मणो गुरुत्वमवश्यमेव वाच्यं यतो गुरुत्वं

सरत्व—पित्त में तेज और जल अधिक होने के कारण पित्त सर होता है। तरल पदार्थ निम्न गतिशील होता है यह तो सबको प्रत्यक्षसिद्ध ही है अतएव पित्तज्वरादि में अतीसार देखा जाता है।

कफ के गुण—चरकसंहिता में लिखा है कि गुरु, शीत, मृदु स्निग्ध, मधुर, स्थिर और पिच्छिल ये सब गुण श्लेष्मा में हैं। गुरु शीत आदि शब्द गुणके वाचक भी होसकते हैं, और गुणीके वाचक भी हो सकते हैं, यहां शास्त्रकारों ने गुणवाचक रूप से ही इन शब्दों का प्रयोग किया है। एक एक करके इन गुणों की आलोचना की जाती है।

गुरु—यद्यपि श्लेष्मा भी पांचभौतिक है तथापि इसमें पृथिवी

क्षितिजलयोरेव नान्यस्य कस्यचित्परिगण्यते । गुरुपदार्थोपयोगात् कफवृद्धिदर्शनात् लघुभिश्च श्लेष्मशान्तिदर्शनात् निर्गते च मलभूते कफेऽपि गुरुत्वदर्शनात् कफो गुरुरिति वाच्यमेव ।

शीतः—वायोरेव स्पर्शोऽग्निसंयोगादुष्ण एवानुभूयते यथा यथा तेजस आधिक्यं तथा तथोष्णतावृद्धिस्ते

और जलकी प्रधानता है, इसलिये इसको सौम्य कहते हैं अतः कफ में गुरुत्व को अवश्य ही मानना पड़ेगा क्योंकि गुरुत्व केवल पृथिवी और जल में ही हैं और किसी भूत में नहीं है। जिसमें पृथिवीऔर जल अधिक हैं, उसमें गुरुत्व अवश्य ही होगा। गुरु पदार्थों के उपयोग से कफ की वृद्धि देखी जाती है। लघु पदार्थों के उपयोग से कफ की शान्ति भी प्रत्यक्षसिद्ध है तथा जो मलभूत कफ निकलता है उसमें भी गुरुत्व मालूम पड़ता है जिससे सिद्ध होता है कि कफ में गुरुत्व है।

शीत—स्पर्श केवल वायु भूत का ही गुण है वह स्पर्श तेज भूत के संसर्ग से उष्ण ही अनुभूत होता है। जिस भौतिक द्रव्य में तेज जितना अधिक होगा वह द्रव्य उतनाही अधिक उष्ण होगा जिसमें तेज की अल्पता होगी वह द्रव्य भी शीत होगा, इस सिद्धान्त का वर्णन पंचभूत-विज्ञान में किया गया है।

जसोऽल्पत्वाच्च शैत्यमिति प्रतिपादितं पञ्चभूतविज्ञाने। तस्मात् सौम्ये पृथिवीजलाधिके श्लेष्मणीतरापेक्षया शीतो गुणः सोऽपि स्पर्शनेन्द्रियेणानुभूयते। शीतेन श्लेष्मा विवर्द्धते क्षीयते चोष्णेनेति प्रत्यक्षसिद्धमेव तस्माच्छीतः श्लेष्मेति साधूक्तम्।

मृदुः—श्लेष्माधिके शरीरे शरीरावयवे च मृदुत्वमनुभूयते, श्लेष्मजानां च रोगाणां प्रायशो मृदुत्वं मृदुभिश्च श्लेष्माभिवृद्धिस्तीक्ष्णैश्च तच्छान्तिरिति सौम्यस्य पृथिवी-

---

इस नियम के अनुसार सौम्य अर्थात् पृथिवी और जल जिसमें अधिक हैं, इस प्रकार का श्लेष्मा भी शीत ही होगा। यहां शीत शब्द से शरीरस्थ अन्यान्य द्रव्य की अपेक्षा से शीत समझना चाहिये वह शीत गुण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है। कफ-ज्वरादि में शीत का अनुभव होता है। शीत से श्लेष्मा बढ़ता है और उष्ण से शान्त होता है यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है अतः श्लेष्मा शीत है यह ठीक ही लिखा है।

मृदु—जिस शरीर में अथवा शरीरावयव में श्लेष्मा अधिक हो उसकी मृदुता प्रत्यक्षसिद्ध है। कफज रोग भी प्रायः मृदु होता है, मृदु द्रव्यों से श्लेष्मा की वृद्धि तथा तीक्ष्ण द्रव्यों से

जलप्रधानस्य स्निग्धस्य च श्लेष्मणो घृतदध्यादिवन्मृदुत्वमेव सम्भवतीति।

स्निग्धः—

स्नेहस्य जलजातत्वमाचार्यैः परिकीर्त्तितम्।
श्लेष्मा तोयाधिकस्तस्मात्तत्रैव स्नेह इष्यते।
श्लेष्माधिके तथा काये स्निग्धता परिदृश्यते।
स्नेहाच्च श्लेष्मणो वृद्धिस्तन्नाशो रूक्षसेवनात्॥
कफस्य स्निग्धता तस्मात् सर्वथैवोपपद्यते।

श्लेष्मा का नाश भी प्रत्यक्षसिद्ध है अतएव पृथ्वी और जल जिसमें प्रधान है जो सौम्य और स्निग्ध है वह द्रव्य घृत, दधि आदि जैसा मृदु ही होगा।

स्निग्ध—जल से स्नेह उत्पन्न होता है ऐसा शास्त्रकारों ने लिखा है। श्लेष्मा भी जलप्रधान है अतः श्लेष्मा में स्नेह माना जाता है। श्लेष्माधिक शरीर में स्निग्धता भी प्रत्यक्षसिद्ध है स्नेह से कफ की वृद्धि तथा रूक्ष द्रव्यों के सेवन से कफ का नाश भी प्रत्यक्षसिद्ध है इन कारणों से शास्त्रकार कफ को स्निग्ध कहते हैं।

मधुर—भूमि और जल के गुणों की बहुलता से मधुर रस

मधुरः—

भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्माधुर्यमुपजायते ।
श्लेष्माऽपि तादृशस्तस्मान्मधुरः सोऽभिधीयते ॥
मधुराच्छ्लेष्मवृद्धिः स्यात् जिह्वापि मधुरा भवेत् ।
कफवृद्धौ ततः श्लेष्मा मधुरः परिकथ्यते ॥

स्थिरः—गतिशीले जगति किंचिदपि सर्वथा स्थिरं न भवति तस्मात् सर्वत्रैव स्थिरत्वमापेक्षिकं बोद्धव्यमत्रापि-गतिशीलवाय्वपेक्षया सरपित्तापेक्षया च श्लेष्मणः स्थिरत्वं

उत्पन्न होता है कफ में भी भूमि और जल की प्रधानता है अतः कफ को भी मधुर कहा जाता है। मधुर रस से कफ की वृद्धि होती है कफ की वृद्धि से जिह्वा भी मधुर मालूम पड़ती है इन कारणों से श्लेष्मा को मधुर कहते हैं।

स्थिर—गतिशील जगत् में कुछ भी सर्वथा स्थिर नहीं हो सकता। अतः स्थिरता सर्वत्र ही आपेक्षिक है ऐसा समझना चाहिए। यहां भी गतिशील वायु की अपेक्षा से तथा सर पित्त की अपेक्षा से श्लेष्मा में अधिक स्थिरता मानी जाती है क्योंकि श्लेष्मा के उपादान में स्थिरतायुक्त पृथिवी भी प्रचुर परिमाण में रहती है। यह श्लेष्मा स्वयं ही स्थिर रहता है ऐसा नहीं समझना

तदुपादाने स्थिरायाः पृथिव्या अपि प्राचुर्यादिति। अयं खलु श्लेष्मा न केवलं स्वयमेव स्थिरस्तिष्ठति किंतु प्रवृद्धः सन् गतिमतां वाय्वादीनामपि मार्गमवरुणद्धि तस्मात्पीडा संजायते इति विदितमेव भिषजामिति।

पिच्छिलः—

पिच्छिलत्वं जलाधिक्यात्पृथिव्यामुपजायते।
पृथ्वीतोयाधिकः श्लेष्मा पिच्छिलोऽतः स कथ्यते॥
पिच्छिलाच्छ्लेष्मवृद्धिः स्यात् श्लेष्माधिकश्च पिच्छिलः।
मुखादिनिर्गतः श्लेष्मा पिच्छिल इव दृश्यते॥

चाहिए यह तो प्रवृद्ध होकर गतिमान वायु आदि की गति को भी बन्द कर देता है जिससे दर्द होना शुरू होता है इस बात को चिकित्सक अच्छी तरह से जानते हैं।

पिच्छिल—जल की अधिकता से पृथिवी में पिच्छिलता उत्पन्न होती है श्लेष्मामें भी पृथ्वी और जलकी प्रधानता है अतः श्लेष्मा को पिच्छिल कहते हैं। पिच्छिल द्रव्यों से श्लेष्मा की वृद्धि होती है जिस अवयव में श्लेष्मा अधिक होता है वह भी पिच्छिल होता है। मुखादि से निर्गत मलभूत श्लेष्मा भी पिच्छिल मालूम पड़ता है। विशद (अपिच्छिल) पदार्थ से श्लेष्मा की शान्ति भी

विशदाच्छ्लेष्मणः शांतिः सर्वैरेवावलोक्यते ।
तस्मात् पिच्छिल एवासौ श्लेष्मा सर्वैर्निगद्यते ॥

वायोः कर्माणि वातकलाकलीये श्रीमता चरकेण वर्णितानि यथा—

(१) "वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः"—तन्त्र्यन्ते नियम्यन्ते हस्तादयोऽवयवा यैस्तानि तन्त्राणि संचालकवातसूत्राणि यन्त्राणि च शरीरे हृद्यकृदादयो विशिष्टकार्यकरा अवयवाः कथ्यन्ते तानि तन्त्रयन्त्राणि धरति स्वकार्यक्षमं

प्रत्यक्षसिद्ध है। इन कारणों से श्लेष्मा को पिच्छिल माना जाता है।

वायु के कार्य—

चरकसंहिता के वातकलाकलीयाध्याय में वायु के कार्य इस प्रकार वर्णित हुये हैं—

(१) वायु तन्त्रयन्त्रधर है—जिनसे हस्तपादादि अवयव तन्त्रित (शासित या संचालित) होते हैं उन संचालक वात सूत्रों को तन्त्रशब्द से समझना चाहिये। यन्त्र शब्द से हृदय यकृत आदि विशिष्ट २ कार्य करने वाले अवयवों को समझा जाता है। इस प्रकार जो तन्त्र और यन्त्र को धारण करता है अर्थात् स्वस्व

करोतीति तन्त्रयन्त्रधरः, एतेनाधुनिका येषां वातसूत्राणा मेव शरीरसंचालकत्वं मन्यन्ते तेषामपि सञ्चालको वायुरेवेति प्राचां सिद्धान्तोऽवगम्यते। युक्तश्चासौ सिद्धान्तः। यतः सञ्चालकवायुमन्तरेण वातसूत्राणां विद्युद्रहिताम्रसूत्रवन्निष्क्रियत्वं प्रत्यक्षमेवावगम्यते, तस्मात् सूत्राणामपि संचालको वायुरिति सत्यः सिद्धान्तोऽवगम्यते। यथा विद्युदनभिज्ञास्ताम्रसूत्राण्येव वार्ताहराणि मन्यन्ते तथैव स्थूल-

---

कार्यतम करता है इससे मालूम पड़ता है कि आधुनिक वैज्ञानिक जिन वातसूत्रों को शरीरसंचालक मानते हैं प्राचीन आचार्यों ने उन वातसूत्रों का,संचालित करनेवाले वायुरूपसे वर्णन किया है। यहां प्राचीनों का सिद्धान्त युक्तिसिद्ध मालूम पड़ता है क्योंकि बिजली के तार में विद्युद्धारा न हो तो वह तार जैसे निष्क्रिय पड़ा रहता है ऐसे ही संचालक वायु जिसमें नहीं है ऐसा वातसूत्र भी निष्क्रय पड़ा रहता है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है अतः उन सूत्रों का भी संचालक वायु ही है यह सिद्धान्त सत्य है ऐसा मालूम पड़ता है।

जैसे विद्युत् के रहस्य को नहीं समझने वाला मनुष्य सिद्धान्त कर लेता है कि बिजली के स्तम्भों में लगा हुआ तार ही संवादवाहनादि कार्य करता है ऐसे ही स्थूलदर्शी समझता है

दर्शिनो वातसूत्राण्येव गत्यादिसाधनानि मन्यन्ते।

(२) "प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्" शरीरे जायमानामुच्चावचानां क्रियाणां प्रवर्तकः एतेनापि संचालकवातसूत्राणां चालकत्वं वायोरभिहितं तमृते चेष्टैव नोत्पद्यत इति।

(३) "नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योतकः" एतेन ज्ञानतन्तूनां संचालकोऽपि वायुरेवेति ज्ञा-

---

कि प्रत्यक्षसिद्ध है। यह वातसूत्र ही गत्यादि को उत्पन्न करने वाला है।

२—उच्चावच चेष्टाओं के प्रवर्तक—शरीर में छोटी से छोटी या बड़ी से बड़ी जो कुछ चेष्टा (क्रिया) होती है वायु उनका प्रवर्तक (सम्पादक) है, इससे भी संचालकवातसूत्रों का प्रवर्तक वायु है इस बात का समर्थन होता है क्योंकि वायु को छोड़ कर किसी प्रकार की चेष्टा ही नहीं हो सकती।

३—मन का नियन्ता और प्रणेता तथा सब इन्द्रियों का उद्योतक—मन को नियन्त्रित करना अथवा प्रेरित करना तथा इन्द्रियों को उत्तेजित करके उनसे विषय ग्रहण कराना वायु का कार्य है। इस बात से सिद्ध होता है कि ज्ञानतन्तुओं का संचालक भी वायु ही है। आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि वातसूत्रों से ही

यते ननु केवलज्ञानतन्तुभिर्ज्ञानोत्पत्तिराधुनिकसम्मता सम्भवति कदाचिदपीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते ।

(४) सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा—इन्द्रियसन्निकृष्टानामपि रूपादीनां ज्ञानकेन्द्रप्राप्तिर्जन्यज्ञानसाधिका वायुद्वारैव

ज्ञान और क्रिया की उत्पत्ति होती है लेकिन यह बात अन्वय और व्यतरेक से सिद्ध नहीं हो सकती। "कारण रहने से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये।" इस नियम को अन्वय कहते हैं तथा "कारण नहीं रहने से कार्य नहीं हो सकता है।" ऐसे नियम को व्यतिरेक कहते हैं। वायु रहनेसे ज्ञान और कर्म उत्पन्न होता है वायु न रहने से ज्ञान और कर्म नहीं होता है इस प्रकार वायु के साथ तो ज्ञान और क्रियाका अन्वय और व्यतिरेक है किन्तु वातसूत्रों की विद्यमानता में भी ज्ञान और कर्म उत्पन्न नहीं होता है इसको प्रत्यक्ष करने से कहना पड़ता है कि वातसूत्रोंके साथ इनका "अन्वय" नहीं है अतः वातसूत्र इनका कारण नहीं हो सकते।

४—सब इन्द्रियार्थों को वहन करने वाला—जब श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ उनके विषय शब्दादि का सन्निकर्ष होता है तब उन विषयों को ज्ञानकेन्द्र तक वहन करके ले जाने वाला वायु ही होता है। जन्यज्ञान की उत्पत्ति के लिये श्रोत्रादि इन्द्रियों से

सम्भवतीति पंचभूतविज्ञाने युक्त्या प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ।

(५) "सर्वशरीरधातुव्यूहकरः" यथेतस्ततो विक्षिप्ता महाशक्तिमत्यपि सेना तूर्णमेव परैः पराजीयते, सैव सेना चतुरसेनानीव्यूढा द्रोणव्यूढेव भीमेनापि शत्रुणा नावमृद्यते तथैव वातेन व्यूढा यथास्थानं संस्थापिता मृदवोऽपि शरीर-

---

सन्निकृष्ट विषय को ज्ञानकेन्द्र तक लेजाना आवश्यक है अन्यथा ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। वायु इन विषयों को किस प्रकार से ज्ञानकेन्द्र तक लेजाता है उसका विशेष वर्णन पंचभूत विज्ञान में युक्ति तर्कादि सहित किया गया है अतः यहाँ फिर विस्तार पूर्वक नहीं लिखा गया।

५—सर्वशरीरधातुव्यूहकर—सर्व शरीरस्थ धातुओं को यथास्थान में स्थापित करने वाला वायु ही है। जैसे अत्यन्त शक्तिशाली बहु सैन्य भी इतस्ततः विक्षिप्त रूप से रह कर अति शीघ्र शत्रु से पराजित होजाती है किन्तु वही सैन्य चतुर सेनापति द्वारा निर्मित व्यूहाकार में अवस्थित होकर द्रोणाचार्य से व्यूहाकार में रचित सैन्य जैसे भीम (भयंकर) शत्रु से भी पराजित न होकर दीर्घ काल तक स्थिर रह सकी ऐसे ही वायु से व्यूहा-

धातवो विमर्दसहाश्चिरस्थायिनः पराभिघातसहाश्च भवन्तीति प्रत्यक्षमेव दृश्यते।

(६) "सन्धानकरः शरीरस्य" संधानं सन्धिः संश्लेष इति यावत् तत्तु कफकार्यमेव किंतु संचालको वायुर्यावन्न दूरस्थितानि द्रव्याणि सन्निहितानि करोति तावत् सन्धानमपि न सम्भवति। संचालकवायुमन्तरेण मुखस्थितमन्नादिपोषकद्रव्यमामाशयमपि न गच्छति न वा

कार में सज्जित अर्थात् यथायोग्य स्थान में अवस्थापित होकर अतिमृदु शरीर धातु भी विमर्दआदि को सहन करने वाले चिरस्थायी तथा अन्य पदार्थ के अभिघात (चोट) को सहन करने में समर्थ बन जाते हैं यह तो सब को प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

६—शरीर का सन्धान कारक—सन्धि अर्थात् एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य के संयोग को सन्धान कहते हैं। वास्तव में इस प्रकार का संयोग श्लेष्मा से होता है वायु से नहीं किन्तु सबका संचालक वायु जब तक दूरस्थित द्रव्यों को परस्पर सन्निहित (निकटवर्ती) नहीं कर देता है तब तक सन्धान भी नहीं हो सकता है। संचालक वायु की सहायता न हो तो मुखस्थित अन्न आमाशय में भी नहीं जा सकता है और न उस अन्न से पोषक द्रव्य पृथक होकर सारे

ततो भुक्तद्रव्यात् पोषकांशाः सर्वं शरीरं गन्तुं शक्नुवन्ति तस्मात् सर्वेषां खलु शारीरद्रव्याणां पोषकभागस्य तत्र तत्र प्रापको वाहको वायुरपि सन्धानकर एव। कफवदन्तः स्थित्वा न सन्धानं जनयति वायुः किन्तु दूरस्थानां परस्परसन्धानयोग्यानां द्रव्याणामेकत्रीकरणे कारणं वाहको वायुरिति।

(७) "प्रवर्त्तको वाचः" स्वरयन्त्रसंचालकानां वातसूत्राणां संचालनद्वारा शब्दोच्चारणं वायुरेव कारयति केनचित्कारणेन दुष्टो वायुर्यदि स्वरयन्त्रसंचलनप्रतिबन्धकमुत्पा-

---

शरीर में जा सकता है अतएव शरीरस्थ सब द्रव्यों का पोषक भाग को यथायोग्य स्थान में उपस्थित करा देना अर्थात् वहन करके ले जाना जिस वायु का कार्य है वह भी सन्धान कारक कहलाता है। जैसे कफ दो द्रव्यों के अन्दर रह कर संयोग करने वाला कहलाता है वायु ऐसा संयोगकारक नहीं है किन्तु परस्पर मिलने के योग्य द्रव्य जो एक दूसरे से दूर में पड़े हैं उनको वहन करके एकत्र कर देने में कारणस्वरूप वायु भी सन्धान कर बन जाता है।

७—वाक्यों का प्रवर्तक—स्वर यन्त्र के संचालक वातसूत्रों को संचालित करके शब्द का उच्चारण कराना भी वायु का ही कार्य

दयति ततः शब्दप्रवृत्तिरपि विक्रियते निष्क्रियेवायौ स्वरयन्त्रमपि छिन्नतन्त्रीवीणायन्त्रमिव निःशब्दं संजायत इति।

(८) "प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः"—स्थूले वायावाकाशानुप्रवेशकृतः शब्दः स्पर्शश्च स्वकीयो गुण इति स्पर्शशब्दगुणवान् वायुरतः स्पर्शशब्दयोः प्रकृतिरुच्यते।

(९) "श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्"—श्रोत्रस्य प्रधानकारणमाकाशमेव स्पर्शनेन्द्रियस्य च प्रधानकारणं वायुरिति सिद्धान्तस्तत्राकाशद्वारैव प्रसृतः शब्दो नावगन्तुं शक्यते किन्तु

है। किसी कारण से वायु दुष्ट होकर यदि स्वरयन्त्र-सञ्चालन में प्रतिबन्धक उत्पादन करे तो उसी समय शब्दोच्चारण भी विकृत हो जाता है। अतिविकृत वायु स्वरयन्त्र को न चलावे तो स्वर यन्त्र भी जिसके तार टूट गये हैं ऐसे वीणा यन्त्र की तरह निःशब्द हो जाता है।

८—शब्द और स्पर्श की प्रकृति—वायु का अपना गुण स्पर्श है किन्तु स्थूल वायु में आकाश के अनुप्रवेश से शब्द भी आ जाता है अतएव स्थूल वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं इसलिये वायु स्पर्श और शब्द की प्रकृति अर्थात् कारण है।

९—श्रोत्र (श्रवणेन्द्रिय) और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) का

वायुद्वारा प्रसृतः शब्दोऽवगम्यते तथा केवलस्याकाशस्याति-सूक्ष्मस्य श्रवणेन्द्रियजननसामर्थ्यं नास्ति श्रोत्रजनकेषु इतरभूतेषु वायोः प्राधान्यमिति श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलमित्युच्यते।

(१०): "हर्षोत्साहयोर्योनिः"—वातसूत्राणामुत्तेजनादेव हर्षोत्साहौ जायेते तस्मादेतयोर्वायुरेवोत्पत्तिकारण मिति

मूल श्रोत्र का प्रधान उपादान आकाश और स्पर्शनेन्द्रिय का प्रधान कारण वायु है ऐसा सिद्धान्त है। किन्तु जो शब्द केवल आकाश द्वारा फैलता है उसका अवबोध (ज्ञान) नहीं हो सकता है क्योंकि केवल आकाश कर्णपटह को न हिला कर उसको भेद करके चला जाता है। जो शब्द वायु द्वारा फैलता है उसको हम सुन सकते हैं। दूसरी बात यह है कि अकेला आकाश जो अति सूक्ष्म है श्रवणेन्द्रिय का उत्पादक नहीं हो सकता। पांचभौतिक श्रवणेन्द्रिय की उत्पत्ति में आकाश के बाद वायु का ही प्राधान्य है इसलिये शास्त्रकारों ने लिखा कि वायु श्रोत्र और स्पर्शनेन्द्रिय का मूल है।

१०—हर्ष और उत्साह की योनि (कारण)। वातसूत्रों की उत्तेजना से हर्ष और उत्साह उत्पन्न होते हैं अतएव हर्ष और उत्साह का उत्पत्तिकारण वायु ही है।

योनिरुच्यते ।

(११) समीरणोऽग्नेः—पाचकेऽग्निसंज्ञा शास्त्रकृद्भिः कृता यदुक्तं सुश्रुतेन 'तस्मिन् पाचकेऽग्निरिति संज्ञेति' एतेन लालारसामाशयिकरसपित्ताग्न्याशयरसादीनां टाईलीन् पेपसीन् आदिसंज्ञकानां भोज्यद्रव्यात् पोषकपदार्थस्य पृथक्कारकाणां पाचकरसानां पाचकपदार्थानां च वायुरेव समीरणः सञ्चालको वातसूत्रसंचालितेभ्य एव तत्तदंगेभ्यः

११—अग्नि का समीरण (संचालक या उत्तेजक) शास्त्रकारों ने पाचक के लिये अग्नि संज्ञा की है जैसा कि सुश्रुतजी ने लिखा है कि "उस पाचक की अग्नि संज्ञा की गई है।" इससे मालूम होता है कि लालारस आमाशयिकरस पित्ताशय के निःस्राव अग्न्याशयके निःस्राव इत्यादि के लिये विशेषतः इनके अन्दर रहने वाले टाईलीन् पेपसीन् आदि नामधारी जो जो द्रव्य भुक्त द्रव्यों से शरीर के पोषक पदार्थों के पृथक करने वाले हैं ऐसे पाचक रस और पाचक द्रव्यों को प्रेरित (संचालित) करना वायु का ही कार्य है। क्योंकि वातसूत्रों से संचालित लाला ग्रन्थि आमाशय आदि अङ्गों से पाचक रस निर्गत होता है तथा टाईलीन् आदि नामधारी विशिष्ट पाचक द्रव्य भी वातसूत्रों की उत्तेजना से ही उत्पन्न होते हैं इसलिये लिखा कि वायु अग्नि का

पाचकरसो निर्गच्छति तथा टाईलीनादिसंज्ञकं विशिष्ट-पाचकद्रव्यमपि वातसूत्राणामुत्तेजनद्वारैव संजायते ततोऽभिहितं समीरणोऽग्नेरिति। तिलप्रमाणो वैद्युताग्निवत् कोकिलाग्निवद्वा न कश्चिदग्निरग्न्याशये शरीरान्तरन्यत्र वा कुत्रचिदस्ति किन्तु पाचकरसादिषु पित्तप्रधानेष्वग्नि-संज्ञोपचारात् कृतेति श्रीमता सुश्रुताचार्येण स्पष्टमेवाभि-हितं तस्मात् तिलप्रमाणोऽग्निरिति कस्यचित् काल्पनिकः प्रयोगो बोध्यः।

समीरण हैं। तिलपरिमाण बिजली की या कोयले की आग जैसी कोई भी आग शरीरके अन्दर या अन्यत्र कहीं भी आयुर्वेदाचार्यों से वर्णित नहीं हुई है किन्तु पित्तप्रधान पाचक रसों में उपचार से अग्नि संज्ञा की गई है। सुश्रुत जी ने स्पष्ट शब्द से ऐसा लिखा है। (यहां उपचार करने का प्रयोजन यह है कि एक अग्नि शब्द से सब ही पाचकों का ज्ञान हो जावे) अतएव तिल-प्रमाण अग्नि का किसी ने काल्पनिक प्रयोग किया है ऐसा समझना चाहिये। (तिलप्रमाण कल्पना करने का प्रयोजन यह है कि सावधानता से उसकी रक्षा करनी चाहिये नहीं तो नष्ट हो जाने की सम्भावना है।

(१२) "संशोषणो दोषाणाम्"—दोषेष्ववस्थितानां जलीयांशानां क्लिन्नवस्त्रस्थजलानामिवान्यत्र नयनं वायुद्वारैव सम्भवति तस्मादेव दोषाणां संशोषणो वायुरित्यभिधीयते।

(१३) "क्षेप्ता बहिर्मलानाम्"—शरीरान्तरुत्पन्नानामनावश्यकीयतानामत एव मलसंज्ञितानां पुरीषमूत्रश्लेष्मादीनां घातकानां च रक्तमिश्रितमलानां कार्बन्द्विओ-

---

१२—दोषों का संशोषक (सुखाने वाला)। जैसे गीले कपड़े से जलीय कण को दूर ले जाने वाला वायु कपड़े को सुखा देता है इसी प्रकार शरीरस्थ वायु भी दोषों में रहने वाले जलीय अंश को दूर ले जाता है अतः वायु दोषों का शोषक कहलाता है।

१३—मलों को बाहर फेंकने वाला—शरीर के अन्दर जो अनावश्यक पदार्थ उत्पन्न होते हैं तथा शरीर के लिये अनुपयोगी होने के कारण जो मल कहलाते हैं इस प्रकार के पुरीष (विष्टा) मूत्र, श्लेष्मा (जो खांसी आदि में निकलता है) आदि को तथा शीघ्र ही प्राणनाश करने वाले रक्त के अन्दर उत्पन्न होने वाले कार्बन, द्वियोषिद् आदि नामधारी मलों को शरीर से बाहर फेंकने वाला वायु ही है। वातनाड़ियों को संचालित करके तत्तदंग को

षिदादिसंज्ञकानां बहिः क्षेप्ता वायुरेव । वातसूत्राणां सञ्चालनद्वारा तत्तदंगसङ्कोचादिकमुत्पाद्य मलानां शरीराद्वहिर्नयनं वायोरेव कार्यम् । वातसूत्राणां सञ्चालनं वायुमन्तरेण न सम्भवति तदन्तरेण च मलानां बहिर्गमनमपि न सम्भवतीति वायुरेव सर्वविधं मलं बहिर्नयतीति प्रत्यक्षमेव । अत्र मलशब्द उपलक्षणार्थस्तेन गर्भशुक्रादीनामपि बहिःक्षेप्ता वायुरेवेति मन्तव्यम् ।

(१४) "स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता"—शरीरे यानि

संकुचित और प्रसारित आदि करना तथा इस प्रकार से उन अंगों पर दबाव देकर मलोंको शरीरसे बाहर फेंकना भी वायुका ही कार्य है। वायु न हो तो वातसूत्रों का संचलन नहीं हो सकता और अंगोंमें संचालन न हो तो मलों का बाहर जाना भी असम्भव है अतएव वायु ही सर्वविध मलों को बाहर ले जाता है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। यहाँ मल शब्द उपलक्षणार्थक है। (जो शब्द अपने अर्थ का बोधक होकर अनुक्त अर्थ का भी द्योतक होता है उसको उपलक्षणार्थक कहते हैं) जिससे गर्भ, शुक्र आदि को बाहर फेंकना भी वायु का कार्य ही समझा जाता है।

१४—स्थूल और अणु स्रोतों का भेदक (विदारण करने

स्थूलानि सूक्ष्माणि वा स्रोतांसि सन्ति मांसादीन् विभिद्य तेषां स्रोतसामुत्पादयिता वायुरेव । यथा रोटिकाद्युपादानस्थो वायुरग्नितापेनोष्णः सन् निर्गच्छंस्तत्रासंख्यानि छिद्राण्युत्पादयति तथैव शरीरोपादाने वर्त्तमानो वायुः पित्ततापेनोष्णः सन् परितो गच्छन् स्थूलान्यणूनि च स्रोतांसि जनयति । श्रीमता सुश्रुतेनाप्युक्तम्—

उष्मणा सहितश्चापि वायुः स्रोतांसि दारयेत् ।
अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा ॥ इति ॥

वाला)। शरीर में जितने स्थूल या सूक्ष्म स्रोत हैं, मांसादि को विदीर्ण करके, वायु ही उन स्रोतों को उत्पन्न करता है ।

जैसे रोटी के उपादान (गुँधे हुए आटे आदि) के अन्दर जो वायु रहता है वह अग्नि के ताप से उष्ण होकर वहां से निकलता हुआ असंख्य छिद्र उत्पन्न कर देता है ऐसे ही शरीर के उपादान में जो वायु रहता है वह पित्त के ताप से उष्ण होकर चारों तरफ फैलता है जिससे छोटे और बड़े २ स्रोत उत्पन्न होते हैं । श्रीमान् सुश्रुत जी ने भी लिखा है कि ऊष्मा (पित्त) के साथ वायु मिलित होकर स्रोतों को उत्पन्न करता है तथा मांस में प्रविष्ट होकर पेशियों का विभाग करता है ।

(१५) "कर्ता गर्भाकृतीनाम्"—भिन्ने २ वयसि गर्भस्थितस्य भ्रूणस्य विभिन्नाकृतिर्दृश्यते, विभिन्नानां च प्राणिनां गर्भस्थभ्रूणस्याकृतिभेदश्चासंख्यात एव। तासां सर्वासामेवाकृतीनां कर्तोत्पादयिता वायुरेव। रक्तमांसादीनां स्वतो निष्क्रियाणां विशिष्टाकारकर्तृत्वं नोपपद्यते ते सर्व-वायुना सञ्चालिता यत्र यत्र यथा यथा यावत्परिमिता अवतिष्ठन्ते तदनुसाराकृतिर्जायते सर्वेषां गर्भस्थभ्रूणानाम्। अनिलसञ्चालितवातसूत्रसङ्कोचादिना गर्भाशयोऽपि विभिन्नाकारमूषावद् भूत्वा विशिष्टाकारयुक्तं गर्भं करोतीति।

१५—गर्भ की आकृतियों को करने वाला—विभिन्न वयः (उम्र) में गर्भस्थ भ्रूणकी भिन्न भिन्न आकृतियां होती हैं। विभिन्न प्राणो के गर्भाशयस्थ भ्रूणों का आकृतिभेद तो असंख्य प्रकार का ही है। उन सब आकृतियों को करने वाला (उत्पन्न करने वाला) वायु ही है, रक्त मांसादि स्वयं निष्क्रिय हैं जिससे विशिष्ट आकार के जनक नहीं हो सकते। वे सब वायु से संचालित होकर जहां जहां जितने परिमाण में अवस्थित होते हैं तदनुसार गर्भस्थ भ्रूणों की आकृति बनती है। वायु से संचालित वातसूत्रों के संकोचादि से गर्भाशय भी नानाविध मूषा (सांचा) जैसा

(१६) आयुषश्चानुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः- आयुषो जीवितकालस्यानुवृत्तिरविच्छिन्नपरम्परयाऽनुवर्त्तनं तस्य प्रत्ययभूतः कारणस्वरूपः सञ्जायते वायुरकुपित इति। एतत्सर्वमकुपितवायुकार्यमित्यर्थः । शरीरधारकाणां हृद्यन्त्रादीनां यथायथं सञ्चालनं वातसूत्रेण वायुपरिचालितेन यावत् सम्यक् सम्पद्यते तावदायुषोऽनुवृत्तिरपि सम्भवति हृदयादिसञ्चालकवातसूत्राणां निष्क्रियत्वे तदानीमेवायुषः परिसमाप्तिर्दृश्यते तस्माद् वायुरेवायुषोऽनुवृत्तिकारणभूतो

बन कर गर्भस्थ शिशु को विशिष्ट आकार का बना देता है।

१६—आयु की अनुवृत्ति (लगातार चलने) का कारण स्वरूप बन जाता है। एक प्राणी जितने समय जीवित रहता है वह उसकी आयु कहलाती है, उसकी अनुवृत्ति का अर्थ है कि मध्य में विच्छिन्न न होकर लगातार चलना। इसका प्रत्ययभूत अर्थात् कारण स्वरूप वायु ही है। यह सब (१ से १६ तक) अकुपित वायु का कार्य है। शरीर के धारक हृद्यन्त्रादि का यथायथ संचालनादि वायु से परिचालित वातसूत्रों से जब तक अच्छी तरह से होता रहता है तब तक आयु की अनुवृत्ति भी होती रहती है तथा हृदयादि के संचालक वातसूत्रादि के निष्क्रिय होते ही आयु

दृश्यते। एतदेव केनचिद् कविना प्रोक्तम्—

वायुरेषो हि भूतानामिति केचिद्वदन्ति हि।
आयुरेव स भूतानामिति मन्यामहे वयम्। इति॥

पित्तकार्यम्—

दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥

समाप्त हो जाती है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है अतः वायु ही आयु की अनुवृत्तिका हेतु है। इस बातको किसी कविने एक श्लोक द्वारा अच्छी तरह से वर्णन किया है, उस श्लोक का अभिप्राय यह है कि—कोई कोई तो कहते हैं कि भूतों में से एक ऐसा है जिस को वायु (वा+आयु) अर्थात् आयु का विकल्प स्वरूप समझा जाता है किन्तु हमारी सम्मति में यह तो निश्चित रूप से आयु ही है। यहां वा शब्द का विकल्प अर्थ नहीं है किन्तु अवधारण (निश्चय) अर्थ है।

पित्त के कार्य—दर्शन (देखना) पक्ति, (परिपाक) ऊष्मा, गर्मी, क्षुधा, तृष्णा, शरीर की मृदुता, प्रभा, प्रसाद और मेधा यह सब अविकृत पित्त के कार्य हैं। एक एक करके उनकी आलोचना की जाती है—

तत्र (१) दर्शनम्—पांचभौतिकस्य चक्षुरिन्द्रियस्योपादानेषु तेजस आधिक्यं यदि न स्यात् ततस्तेन तैजसस्य रूपस्य ग्रहणं न सम्भवति इति युक्त्या प्रतिपादितं पंचभूतविज्ञाने । किंतु शरीरे पित्तव्यतिरेकेण नान्योऽग्निरुपलभ्यते तस्माच्चक्षुरिन्द्रियोपादानभूतं स्थूलं यत्तेजस्तदेवालोचकपित्तसंज्ञां लभते रूपालोचन कर्मणि समर्थत्वात्।

(२) पक्तिः—परिपाकः । भुक्तद्रव्याणां तथा विश्ले-

१—दर्शन—पांचभौतिक चक्षुरिन्द्रिय के उपादान में यदि तेज की प्रधानता न होती तो उससे केवल तैजस रूप का ज्ञान नहीं होता इस बात का पंचभूतविज्ञान में युक्ति पूर्वक वर्णन किया गया है । शरीर में साधारण अग्नि नहीं रह सकती । सुश्रुत जी ने स्पष्ट लिखा है कि पित्त के अतिरिक्त शरीर में और कुछ अग्नि मालूम नहीं पड़ती है इसका अभिप्राय यह होगा कि पित्त का रूप धारण करके ही शरीर में अग्नि रह सकती है अतएव चक्षुरिन्द्रिय का उपादान भूत जो अग्नि है वह ही आलोचक पित्त नाम से चक्षु में रहती है रूप का आलोचन (दर्शन) कराना इस पित्त का कार्य है जिससे इसको आलोचक नाम से निर्देश किया जाता है ।

षणां यथा रसमलयोर्विभागः सम्भवतीति, पोषकद्रव्याणां पृथग् भवनयोग्यतेति फलितोऽर्थः। पृथक्करणं तु सञ्चालकस्य वायोरेव कार्यं किन्तु तदनुकूलतासम्पादनमेव पित्तकार्यमिति। तत्र टाईलीन् पेपसीन् आदिसंज्ञाभाजो ये ये पदार्था भुक्तद्रव्यस्य पाचकास्तेऽपि पित्तप्रधानाः, रक्तादेव निर्गतेषु तेषु रक्तमलस्याधिक्यादपि पित्तस्याधिक्यं सुष्ठु

---

२ पक्ति—परिपाक अर्थात् भुक्त द्रव्यों का ऐसा विश्लेषण करना जिससे रस और मल पृथक् पृथक् हो सकें उसको पक्ति कहते हैं। पक्ति शब्द का प्रकृत अर्थ यह है कि भुक्त द्रव्य में इस प्रकार परिवर्तन हो जावे जिससे पोषक द्रव्यों में पृथक् होने की योग्यता आजावे। पोषक पदार्थों को भुक्त द्रव्य से पृथक करना तो संचालक वायु का ही कार्य है किन्तु पोषक पदार्थों में पृथक होने की योग्यता बना देना पाचक पित्त का कार्य है।

टाईलीन्, पेपसीन् आदि नामधारी जो जो पदार्थ भुक्तद्रव्योंके पाचक हैं वह भी पित्त प्रधान द्रव्य हैं क्योंकि ये सब पाचक द्रव्य रक्त से ही निकलते हैं। जिससे इनमें भी रक्त का मल अधिक है अतएव इनको पित्त प्रधान कहना असंगत नहीं है। यहां भुक्तद्रव्य से रस और मल को पृथक् पृथक् करना अथवा पृथक् होने के

सङ्गच्छते। भुक्तद्रव्यस्य रसमलरूपेण विश्लेषणं स्थूला पक्तिर-वगन्तव्या किंतु न तत्रैव पाकक्रिया परिसमाप्यते ततः पर-मपि सर्वेषां धातूनां स्वेन स्वेनाग्निना पित्तापरपर्यायेण पाकः संजायते भौमाग्निभौतिकाग्निभिरपि पित्तापरपर्यायैः पाकाः संजायन्ते। एते खलु बहुविधाः पाकाश्चरके ग्रहणी-चिकित्सिते वर्णितास्तत्रैव द्रष्टव्याः। सर्वे खलु पाका आग्ने-

---

योग्य बना देना इसको स्थूल परिपाक समझा जाता है किन्तु इतने में पाक क्रिया समाप्त नहीं होजाती है। इस स्थूल पाकक्रिया के बाद भी रस रक्तादि धातु के अन्दर रहने वाली अग्नि से रसादि धातु का पाक होता रहता है। रसादि में जो धात्वग्नि रहती है वह भी पित्त ही है क्योंकि सुश्रुत में लिखा है कि पित्त के अतिरिक्त और कोई अग्नि शरीर में नहीं है। भौमाग्नि, जलीयाग्नि आदि नाम से प्रसिद्ध भौतिकाग्नि भी पित्त ही है इस प्रकार बहुविध पाक (जिसको आधुनिक मतमें रासायनिक परिवर्तन कहते हैं) चरक संहिता के ग्रहणी चिकित्साध्याय में वर्णित हुये हैं वहां से देख लेना चाहिये। सब प्रकार के पाक आग्नेय पित्त से ही होते हैं। पाचक पित्त से अन्न का परिपाक ठीक ठीक तरह से न हो तो अजीर्ण, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं। रसाग्नि मन्द हो

येन पित्तेनैव जायन्ते । अन्नपाचकस्याग्नेर्मन्दतायामन्नं सम्यक् न पच्यतेऽतोऽजीर्णातीसारादयो रोगा जायन्ते। रसाग्नेर्मन्दतायामपरिपक्वाद्रसादामोत्पत्तिर्भवति। यदुक्तम्—

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥ इति ॥

रक्तादिधातुस्थाग्नेर्मन्दतायां धातुमलयोः साम्यस्थितिर्विपर्यस्यति तस्मात् स्थूलदृष्ट्या पाचकपित्तमामाशयादिमहास्रोतःसम्बन्धिन्यंगे स्थितमवगम्यते किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या

जाने से रस का सम्यक् पाक नहीं होता है उस अपक्व रस से ही आम उत्पन्न होता है। शास्त्र में लिखा है कि ऊष्मा अर्थात् रसाग्नि की दुर्बलता से प्रथम धातु (रस) अपरिपक्व और आमाशय गत होकर दुष्ट हो जाने से आम कहलाता है। रक्तादि धातु में जो अग्नि है उसके मन्द हो जाने से धातु और मलों की साम्य-स्थिति बिगड़ जाती है। अतएव स्थूल दृष्टि से पाचक पित्त आमाशयादि महास्रोत का अवयव अथवा महास्रोत सम्बन्धी अंग (यकृत, आमाशयादि) अवस्थित मालूम पड़ता है किन्तु सूक्ष्म विचार करने से मालूम पड़ेगा कि पाचक पित्त भी सर्व शरीर में व्यापक है क्योंकि धात्वग्नि और भौतिकाग्नि से जो

सर्वव्यापित्वादवगन्तव्यम्। पाचकपित्तस्यापि सर्वशरीरव्यापित्वमेव सूक्ष्मपाकस्य तत एव सुश्रुतेन सर्वेषामेव पित्तानामप्राधान्येन पित्तसंज्ञा प्राधान्येन चाग्निसंज्ञा कृता।

(३) उष्मा—उष्मा पित्तादृते नास्तीति सिद्धान्तस्तस्यायमभिप्रायः—'उष'दाहे इत्येतस्माद्धातोरुष्मेति रूपम्। दाहजननमग्निकार्यं न च पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरस्ति शरीरे तस्माच्छरीरे य उष्मा दृश्यते स पित्तस्यैवेति ज्ञात-

पाक होता है वह शरीर में सर्वत्र ही होता रहता है। अतएव श्रीमान् सुश्रुत जी ने सब ही पित्तों की पित्त संज्ञा को अप्रधान रख कर प्रधान रूप से अग्नि संज्ञा दी है। (जैसा साधक अग्नि संज्ञा आलोचक अग्नि संज्ञा इत्यादि)।

३ उष्मा—पित्त को छोड़ कर ऊष्मा उत्पन्न नहीं हो सकती इस प्रकार शास्त्रीय सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि—उष दाहे इस उष धातु से उष्मा पद निष्पन्न हुआ है। दाह उत्पन्न करना अग्नि का कार्य है। पित्त के अतिरिक्त और कोई अग्नि भी शरीर में नहीं है अतएव शरीर में जो ऊष्मा (गर्मी) मालूम पड़ती है वह पित्त से ही उत्पन्न होती है। क्योंकि ऊष्मा सर्व शरीर में व्यापक है इससे अनुमान किया जाता है कि पित्त भी

व्यमुष्मणश्च सर्वशरीरव्यापित्वात् पित्तमपि सर्वशरीर व्यापकमेव ज्ञेयम् । ननु शरीरे सर्वत्र पित्तमस्ति चेत्कथं न दृश्यते इति चेद्, उच्यते—चक्षुषा दर्शनमेव न प्रत्यक्षमुच्यते किंतु भवतीन्द्रियान्तरेणापि प्रत्यक्षमिति यथा भस्मराशिस्थो वह्निः स्पर्शेणैवानुभूयते नतु चक्षुषा तथैव सर्वशरीरस्थमपि तैजसं पित्तमुष्णस्पर्शेणैवानुभूयते नतु चक्षुषेति बोध्यम् । चक्षुषा दृष्टानामेवास्तित्वस्वीकाराग्रहे स्वचक्षुषोऽस्तित्वमेव न सिध्यति तस्मात् सर्वत्र चक्षुषा द्रष्टुमाग्रहो

सारे शरीर में व्यापक है ।

यहां शंका होती है कि यदि सारे शरीर में पित्त व्यापक है तो चक्षु से क्यों नहीं देखा जाता ? इसका उत्तर यह है कि केवल चक्षु से देखना ही प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु दूसरी इन्द्रियों से अनुभव करने को भी प्रत्यक्ष कहते हैं । जैसे भस्म राशि में स्थित अग्नि को चक्षु से तो नहीं देख सकते हैं किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय से उस अग्नि का भी प्रत्यक्ष हो जाता है । इस प्रकार सर्वशरीरस्थ पित्त का भी अनुभव होता है । "केवल चक्षु से जिसका प्रत्यक्ष होगा उसी का अस्तित्व स्वीकार किया जावेगा" इस प्रकार दुराग्रह करने वाला अपनी चक्षु का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं कर सकता

न शोभत इति ।

(४) क्षुत्—बुभुक्षा भोक्तुमिच्छा, शरीरादपचीयमानानामंशानां पूरणार्थं शरीरपोषणार्थं च पोषकद्रव्यग्रहणेच्छेति यावत् । सा च बुभुक्षा पूर्वं भुक्तानां सम्यक् परिपाकादनन्तरमेव जायते । यावत्पूर्वभुक्तं न सम्यक् पच्यते न तावद् बुभुक्षा भवतीति प्रत्यक्षमेव । अन्नादिकमेवान्तरग्नेरिन्धनमिति भुक्तद्रव्याणां सम्यक् परिपाकादनन्तर-

---

क्योंकि उसको भी चक्षु से नहीं देख सकता है। अतएव सर्वत्र चक्षु से देखने का आग्रह करना अच्छा नहीं है।

४ क्षुधा—बुभुक्षा । खाने की इच्छा को क्षुधा कहते हैं । अर्थात् शरीर से जितने अंश का अपचय (नाश) हो जाता है उसको पूर्ण करने के लिये तथा शरीर का पोषण करने के लिये पोषक द्रव्य को ग्रहण करने की जो इच्छा होती है उसको क्षुधा कहते हैं। यह क्षुधा पूर्वभुक्त अन्न के परिपाक हो जाने के बाद ही होती है। जब तक पहिले के खाये हुए अन्न का परिपाक अच्छी तरह से नहीं होता तब तक क्षुधा नहीं होती है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। अन्नादि ही अन्तराग्नि का इन्धन है। अन्नादि के सम्यक् परिपाक होने के बाद भी इन्धन के अभाव से अन्तराग्नि

मप्यन्तरग्निर्निरिन्धनो न स्थातुं शक्नोति किंतु शरीर-धारकाणां स्नेहस्यैव हिंसनमारभते। ततः शारीरा धातवः स्वकीयया भाषया भाषन्तेऽन्तरग्नेरिन्धनमन्नादिकं दत्त्वा नः परित्रायस्वेति सैव क्षुधोच्यते—यथोपयुक्तेन्धनालाभे वह्निना शरीरस्नेहहिंसनं श्रीमता चरकेणाप्युक्तमेव—'स यदा नेन्धनं युक्तं लभते देहजं तदा। स्नेहं हिनस्ती'ति। तस्मात् क्षुधापि तैजसस्य पित्तस्यैव कार्यमिति।

(५) तृष्णा—पित्तोष्मणा वाष्पीभूते प्रश्वासादिद्वारा

का रहना असम्भव है अतएव वह अन्तरग्नि शरीर के धारकों के स्नेहोंकी ही हिंसा करने लग जाती है। उस समय शरीरके धातु समूह अपनी भाषा में कहते हैं कि अन्तरग्नि के लिये अन्नादि इन्धन देकर हमें बचाओ। धातुओं के इस संकेत को क्षुधा कहते हैं। यथायुक्त इन्धन न मिलने से पाचकाग्नि से शरीरस्थित स्नेह की हिंसाकी बात चरक जी ने भी लिखी है कि—वह पाचकाग्नि जब यथोचित इन्धन को प्राप्त नहीं करती तब शरीरस्थ स्नेह की हिंसा करता है। अतएव क्षुधा भी तैजस पित्त का ही कार्य है।

५ पिपासा—पित्त की ऊष्मा (गर्मी से) से शरीरस्थित जल वाष्प रूप बन कर प्रश्वासादि रूप से बाहर निकल जाने से अथवा

स्वेदादिद्वाराच वहिर्निर्गते शरीरस्थे सलिले तस्य पूरणाय जलग्रहणेच्छा सञ्जायते सैव पिपासोच्यते, उष्माणमन्तरेण जलस्य वाष्पीभवनक्रिया न सम्भवति तस्मात् पित्तमेव जलक्षपणद्वारा पिपासां जनयतीति।

(६) देहमार्दवम्—पित्तोष्मणा शरीरस्थं जलं स्नेहादिकं च द्रवीभूतमवतिष्ठते उष्मणोऽपचये जलादिकं स्नेहादिकं च सर्वमेव दृढतामवलम्बते। शीततौ यद्यपि तापस्य नात्यन्ताभावस्तथापि तापाल्पत्वादेव वसा-नारिकेलस्नेहादिकं

पसीना के रूप से शरीरस्थ जलीय भाग कुछ निकल जाने से उस जलीय अंश की पूर्ति के लिये जल ग्रहण की जो इच्छा होती है उसे पिपासा कहते हैं। पित्त की गर्मी न हो तो शरीरस्थ जल वाष्प रूप में परिणत नहीं होता है, और न पसीना ही आता है, अतएव जल को गर्म करके बाहर निकाल देने वाला पित्त ही पिपासा को उत्पन्न करने वाला समझा जाता है।

६ देहमार्दव (शरीर की मृदुता)—पित्त की गर्मी से शरीरस्थ जल तथा स्नेहादि पदार्थ द्रव अवस्था में रहते हैं, ऊष्मा की कमी हो जाने से शरीरस्थ जलादि और स्नेहादि सब ही दृढ़ (कठिन) हो जाते हैं। शीतकाल की वायु में ताप का सम्पूर्ण

दृढतां भजते ततोऽपि तापाल्पत्वे जलमपि हिमोपलं भवति। एवं यावदुष्मजनकं पित्तं स्वकार्यं सम्पादयति तावत् जलादीनां द्रवीभावेनावस्थानादनुभूयते शरीरे मृदुता। तापापगमादेव मृतं शरीरं कठोरतां भजते श्लैष्मिके रोगेऽपि व्रणशोथादौ कठोरता तापाल्पत्वादनुभूयते तस्मादेव देहमार्दवमपि पित्तकार्यमुच्यते।

(७) प्रभा--प्रकृष्टा दीप्तिरेषापि तैजसेन पित्तेनैव जन्यते तेजस्येव प्रभादर्शनात्। किमत्र कारणमिति चेद्

अभाव नहीं होता है फिर भी ताप कम होजानेसे चर्वी, नारिकेल-तैल आदि जम जाता है उससे भी ताप घट जाने से जल भी बर्फ़ बन जाता है। शरीर में भी ताप उत्पन्न करने वाला पित्त जब तक अपना कार्य ठीक ठीक तरह से करता रहता है तब तक जलादिके द्रवावस्था में रहने से शरीर में मृदुता मालूम पड़ती है। ताप कम होजाने से मृतशरीर शीघ्र ही कठोर बन जाता है। कफज व्रणशोथादि रोग में भी तापकी कमी से हो कठोरता मालूम पड़ती है अतएव शरीर को मुलायम रखना भी पित्त का ही कार्य माना जाता है।

७ प्रभा—प्रकृष्ट दीप्ति को प्रभा कहते हैं। यह भी तैजस पित्त

उच्यते—त्वचि स्थितं पित्तं वर्णं तस्मिन्नुज्ज्वलतां च सम्पादयति। पदार्थविद्याविज्ञानामभिमतमेतद् यदालोके सप्तविधा वर्णाः सन्ति यद्‌द्रव्यमापतितस्यालोकस्य यं यं वर्णं गृह्णाति तदतिरिक्तवर्णवदेवालोक्यते तद्‌द्रव्यम्। यद् द्रव्यं सर्वानेव वर्णान् गृह्णाति तत् कृष्णमालोक्यते। यत्तु कमपि वर्णं न गृह्णाति तच्छुक्लं दृश्यते। तैजसद्रव्या-

---

का ही कार्य है क्योंकि तेजमें ही प्रभाका होना प्रत्यक्षसिद्ध है। पित्तसे प्रभा क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि त्वचा में अवस्थित पित्त वर्ण को उत्पन्न करता है और वर्ण में उज्ज्वलता भी पित्त ही करता है। पदार्थविद्याको जानने वालोंका अभिमत यह है कि आलोक में सात प्रकार के वर्ण रहते हैं। जो द्रव्य अपने ऊपर पड़े हुये आलोक से जिस २ वर्णको अपने में जज्ब कर लेता है वह द्रव्य उन वर्णों के अतिरिक्त वर्णयुक्त दिखाई देता है। जो द्रव्य सब ही वर्णों को जज्ब करता है वह काला दिखाई देता है तथा जो द्रव्य किसी वर्ण को जज्ब नहीं करता वह श्वेत (सफेद) दिखाई देता है। स्वर्ण रौप्य आदि तैजसद्रव्य के ऊपर आलोक पड़ कर अतिशीघ्र प्रत्यावर्तित होता है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है (तैजस द्रव्य इसलिये ही भास्वर शुक्ल अर्थात् प्रभा

णां सुवर्णरजतादीनांचालोकप्रत्यावर्तनशीलत्वं दृश्यते ततस्तैजसं भास्वरं शुक्लं भवतीति। तथा पित्तमपि त्वचि स्थितं सद्यदि सर्वानेव वर्णान् प्रत्यावर्तयति तत एव प्रभावान् शुक्लश्चावलोक्यते। तैजसेतरद्रव्याणां सर्वेषामेवालोकवर्णग्राहित्वात्तथोज्ज्वलमितरं नालोक्यते यथा तैजसमिति तैजसस्य पित्तस्यैव प्रभाजनकत्वं युक्त्या सिध्यति।

(८) प्रसादः—प्रसादस्तु प्रसन्नता नैर्मल्यमित्यर्थः। यथा सूर्यतापेन तप्तानां भूजलादीनामन्तःस्थमलसंक्षयान्नै-

---

युक्त शुक्लवर्ण विशिष्ट होता है) तैजस पित्त त्वचा में रह कर यदि सब ही वर्णों को प्रत्यावृत्त कर दे तो प्रभायुक्त शुक्ल वर्ण मालूम पड़ता है। तैजस के अतिरिक्त सब ही वस्तु आलोक से कुछ न कुछ वर्ण को जज्ब करते हैं इसलिये तैजस वस्तु जितना उज्ज्वल दिखाई देता है ऐसा और कोई नहीं दिखाई देता। अतएव तैजस पित्त ही प्रभा का जनक है यह बात युक्ति से सिद्ध हो जाती है।

८ प्रसाद—प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता को प्रसाद कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उत्ताप से उत्तप्त भूमि, जल आदि के अभ्यन्तरस्थित मलों के नाश से उनकी निर्मलता हो जाती है ऐसे ही

र्मल्यं संजायते तथैव पित्ततेजसा तप्तानां रसरक्तादि-धातूनामन्तःस्थमलक्षयद्वारा नैर्मल्यमुपजायते। बहवो मल-पदार्थाः पित्ततेजसा पच्यमानाः शुद्धा भवन्ति, बहवश्च पित्ततेजसा वाष्पीभूताः प्रश्वासादिद्वारा बहिर्निर्गच्छन्तीति शरीरस्य वैमल्यं सञ्जायते तस्मात् प्रसादकृत् पित्तमिति।

(९) मेधा—तैजसं पित्तं सत्त्वगुणप्रधानं ततः प्रकाशशीलमिति वाच्यमेव, यदुक्तम्—सत्त्वं लघु प्रकाशकमि-

---

पित्त के ताप से उत्तप्त रस रक्तादि धातुओं के अभ्यन्तरस्थित मलों के नाश हो जाने से धातुओं में निर्मलता आ जाती है। बहुतसे मलपदार्थ पित्त की गर्मीसे परिपाक (रासायनिक परिवर्तन) को प्राप्त होकर शुद्ध हो जाते हैं और बहुतसे मलपदार्थ पित्त की गर्मी से गैस Gas बन कर प्रश्वासादि द्वारा बाहर निकल जाते हैं अतएव शरीर की निर्मलता, सम्पादन करना भी पित्त का कार्य है।

९ मेधा—पित्त में तेज की प्रधानता है। तेज (अग्नि) में सत्त्व और रजोगुण प्रधान है अतएव तैजस पित्त भी प्रकाश शील है क्योंकि सत्त्व गुण को लघु तथा प्रकाशशील माना जाता है। यह सत्त्व गुण, ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि आदि

ष्टमिति। सत्त्वं खलु ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिकारकमुच्यते तस्मात् सत्त्वगुणप्रधानं पित्तं स्मृत्यपरपर्यायां मेधां जनयति ततो मेधाऽपि तैजसपित्तकार्यमेव।

कफकार्यम्—

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्॥

(१) स्नेहः—सौम्ये श्लेष्मणि स्वोपादानादेव स्नेहः

को करने वाला है। स्मृति और मेधा एकार्थक शब्द हैं जो स्मृतिकारक होगा वह मेधाकारक भी होगा अतएव मेधा को भी पित्त का कार्य माना जाता है।

कफ के कार्य—

स्नेह, (स्निग्ध करना) बन्ध, (बन्धन करना) स्थिरत्व, (स्थिरता उत्पादन करना) गौरव (गुरुता उत्पादन करना) वृषता, (मैथुन में सामर्थ्य उत्पन्न करना) बल, क्षमा, धैर्य, और अलोभ ये सब अविकृत कफ के कार्य हैं।

१ स्नेह—सौम्य श्लेष्मा में अपने उपादान से ही स्नेह उत्पन्न होता है अतएव श्लेष्मा स्निग्ध मालूम पड़ता है, जहां जहां श्लेष्मा रहता है वहां वहां स्निग्धता मालूम पड़ती है स्नेह से कफ की

सञ्जायते तस्मादसौ स्निग्धः परिदृश्यते। यत्र यत्र श्लेष्मा तत्र तत्र स्नेहदर्शनात् स्निग्धेन कफेन स्नेहनमपि सुतरां सङ्गच्छते। अत्र स्नेहशब्देन स्नेहनकार्यं बोध्यम्।

(२) बन्धः—बन्धः संश्लेषणं संयोग इति यावत्। स्नेहनादपि कफस्य प्रधानकार्यमेतत् संश्लेषणं नाम। यतः संश्लेषणकारित्वादेवायं श्लेष्मेति परिकथ्यते। शरीरस्थानां सर्वेषामेव धात्वादिपदार्थानां संश्लेषकः श्लेष्मैवेति प्रागेव युक्त्या प्रतिपादितम्। परस्परबन्धनमन्तरेण गोणीस्थितगु-

---

वृद्धि तथा स्नेह के विपरीत रुक्ष से कफ की शान्ति होती है जिससे कफ में स्निग्धता सिद्ध होती है स्निग्ध श्लेष्मा स्नेहन कार्य को अवश्य ही करेगा। यहां स्नेह शब्द से स्नेह गुण न समझ कर स्नेहन कार्य समझना चाहिए क्योंकि श्लेष्मा के कार्यों के वर्णन का ही प्रसंग है।

२ बन्ध—संश्लेषण अर्थात् संयोग को बन्ध कहते हैं। स्नेहन से भी संश्लेषणको कफका प्रधानकार्य माना जाता है क्योंकि शरीरावयवों के संश्लेषण (संयोग) करने से ही इसका श्लेष्मा नाम पड़ा है। शरीर के अवयवस्वरूप सब धात्वादिकों का संयोगकारक श्लेष्मा ही है इसको पहिले ही युक्ति द्वारा प्रतिपादित किया है।

ष्कसिकतावच्छरीरावयवाः स्वल्पेनापि छिद्रपथेन विकीर्येरन्, किन्तु श्लेष्मैव तेषां बन्धनं सम्पादयति ।

ननु शरीरे यत्र यत्र निर्यासवत् द्रव्यं दृश्यते तस्य संयोगकरत्वं कफशब्दवाच्यत्वं च काममुच्यतां, किन्तु सर्वेषां खल्ववयवानां कोषाणां च परस्परबन्धनं सर्वत्र न निर्यासवद्द्रव्येण सञ्जायते दृश्यते तु बहुस्थानेषु सूत्राणां पेशीनां स्नायूनाञ्च बन्धनसाधनत्वमिति चेद् उच्यते—

अवयवों में परस्पर बन्धन न हो तो गोणी के अन्दर रहने वाली सूखी बालू की तरह, एक ही सूक्ष्म छिद्र से सब धातु बिखर जा सकते थे किन्तु श्लेष्मा उनको बन्धन करके रखता है। यहां सन्देह होता है कि शरीर में जहां गोंद जैसा द्रव्य देखा जाता है वहां उसको कफ और संयोगकारक कह देना तो सम्भव है किन्तु शरीर के सब ही अवयवों को जोड़ने वाला ऐसा गोंद जैसा द्रव्य नहीं है क्योंकि कोष जैसे सूक्ष्म अवयव तथा अस्थि आदि स्थूल अवयव सब ही गोंद जैसे द्रव्य से नहीं जुड़ते हैं, किन्तु कहीं तो सौत्रिकतन्तु से और कहीं मांसपेशी से बन्धन होता है। स्नायु भी संयोगकारक होता है यह तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है फिर श्लेष्मा को ही सब बन्धनों का कारण कैसे कह

तत्रापि सूत्रादिघटकानामवयवानां परस्परसंश्लेषणं श्लेष्मद्वारैव भवति कथमन्यथा तादृग्दीर्घं सूत्रादिकमुत्पद्यते तादृग् दृढं च भवतीति। तस्मात् यत्र स्थूलानां संयोगो सूत्रादिभिर्मांसपेशीभिर्वा दृश्यते तत्रापि बन्धनसाधनस्य सूत्रादेः निर्माणार्थं तदवयवानां परस्परसंयोगोऽपेक्ष्यते स च संयोगः सूत्रादिभिर्न जायते किन्तु श्लेष्मणैव। एतादृशस्य संयोगस्य सर्वशरीरव्यापित्वात् संयोगकारकः श्लेष्माऽपि व्यापक एव कथ्यते।

सकते हैं इस शंका का उत्तर यह है कि जहां सूत्रादि से बन्धन देखा जाता है वहां भी सूत्रादि को उत्पन्न करने वाले अवयवों का परस्पर संयोग श्लेष्मा द्वारा ही होता है। अवयवों के संयोग बिना ही इतना लम्बा और सख्त सूत्र कैसे उत्पन्न हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि जहां सूत्र, पेशी या स्नायु से बन्धन प्रत्यक्षसिद्ध भी है वहां भी उन सूत्रादि के अवयवों के परस्परसंयोग की अपेक्षा रहती है। वह संयोग सूत्रादि से नहीं हो सकता किन्तु श्लेष्मा से ही होता है। ऐसा संयोग शरीर में सर्वत्र ही है अतएव संयोगकारक श्लेष्मा को भी सर्वशरीरव्यापी माना जाता है।

(३) स्थिरत्वम्—वायवीयवातापेक्षया तैजसपित्तापेक्षया च सौम्यस्य पृथिवीजलप्रधानस्य कफस्य स्थिरत्वमवश्यमेव वाच्यम्। चलत्वविरोधिगुणस्यैव स्थिरत्वसंज्ञा। तत्र यदि वायोश्चलत्वं स्थिरत्वकर्मणा कफेन कथंचिन्नावरुध्यते चलोऽसौ वायुरपरानपि स्थानभ्रष्टान् करोतीति। अयमवयवनां संयोगं संसाध्य तथा स्थिरत्वं (दृढतां) जनयति यथा तेऽवयवाः सहसा न विचाल्यन्ते। इष्टकपुंजानां काठिन्येऽपि तावत् स्थिरत्वं न जायते यावदिष्टकसंयोजक

---

३ स्थिरत्व—वायवीय वात की अपेक्षा तथा तैजस पित्त की अपेक्षा से सौम्य अर्थात् जिसके उपादान में पृथिवी और जल की प्रधानता है ऐसे कफ की स्थिरता अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ती है, चलत्व के विरोधी गुण को स्थिरत्व कहा जाता है। वायु चल है अर्थात् स्वयं चलकर और सबको भी चलाता है वायु के इस चलत्व में यदि स्थिरत्व सम्पादक कफ कुछ भी रुकावट न डाले तो चल वायु शरीरस्थ सब द्रव्यों को स्थानभ्रष्ट कर देता, किन्तु यह कफ अवयवों का परस्परसंयोग घटाकर इतनी स्थिरता (दृढ़ता) कर देता है कि उन अवयवों को आसानी से कोई भी नहीं हिला सकता। ईंटों के ढेर में कठिनता तो है

द्रव्यैरिष्टकानां संश्लेषणं न भवति। संजाते तु संश्लेषणे तथा स्थिरत्वं संजायते यथान्यैः सञ्चालनं न सम्भवति। एवं शरीरावयवा अपि श्लेष्मणा संश्लिष्टाः सञ्चालनायोग्याः स्थिराः संजायन्ते तस्माच्छरीरे स्थिरत्वं यद्दृश्यते तदपि श्लेष्मणः कार्यमिति।

(४) गौरवम्—यतः श्लेष्मा गुरुस्तस्मात् स शरीरे

किन्तु इन ईंटों को जब तक चिनाई के मसाले से नहीं चिना जाता तब तक उनमें स्थिरता नहीं आ सकती। मसाले से ईंटों का संश्लेषण हो जाने से उनमें इतनी स्थिरता आ जाती है कि उनको आसानी से नहीं हिला सकते। इस प्रकार शरीर के अवयव भी श्लेष्मा से संश्लिष्ट (संयुक्त) होकर सञ्चालन के अयोग्य स्थिर हो जाते हैं। अतएव शरीर में जो स्थिरता है वह भी श्लेष्मा का कार्य है।

४ गौरव—श्लेष्मा के गुणों के वर्णनप्रसंग में युक्ति से प्रतिपादन किया है कि श्लेष्मा में गुरुत्व है, क्योंकि श्लेष्मा गुरु है अतएव वह शरीर में गुरुता उत्पन्न करता है। इस बात से ऐसा नहीं समझना चाहिये कि शरीर में जितना गुरुत्व (वज़न) है वह सब ही श्लेष्मा से होता है क्योंकि शरीर में जितना रक्त

गुरुत्वं जनयति। शरीरे यावत्परिमितं गुरुत्वं दृश्यते तत् सर्वं श्लेष्मजन्यमिति नावगन्तव्यम्, यतो धातुष्वपि गुरुत्वमस्त्येव किन्तु वाताद्यपेक्षया श्लेष्मणि गुरुत्वमधिकमिति मन्तव्यम्। किंच वाताद्यपेक्षया स्थूलः स्थिरोऽयं गतिमतां सूक्ष्मस्रोतोऽनुगामिनां वातादीनां मार्गं कथंचिदावृत्य शरीरे गौरवमादधातीति ज्ञातव्यम्। तावत् शरीरेगुरुत्वावबोधो न सम्भवति यावद् वातादयः कुत्रचित् कथंचिदपि नावरुध्यन्ते तस्माद्

मांस आदि जो धातुसमूह है उसमें तथा अन्यान्य बहुतसे पदार्थों गुरुत्व में (वजन) है। श्लेष्मा गुरुत्व को उत्पन्न करता है इसका अभिप्राय यह है कि बातादि की अपेक्षासे श्लेष्मामें गुरुत्व अधिक है अतः श्लेष्मा गुरुत्व को उत्पन्न करता है। गुरुत्व शब्द से यहां दूसरा अभिप्राय यह है कि वातादि की अपेक्षा से स्थूल और स्थिर श्लेष्मा जब गतिमान, सूक्ष्म सूक्ष्म स्रोतों में जानेवाले वातादिकों के मार्ग को कथंचित आवृत करके (घेरकर) अवस्थित होता है तब शरीर का वजन तो नहीं बढ़ता किन्तु शरीर में भारीपन मालूम पड़ता है। ऐसा न होने से शरीर में भारीपन मालूम नहीं पड़ सकता क्योंकि जब तक गतिशील वातादि कहीं भी कुछ भी रुकावट को प्राप्त नहीं करता तब तक भारीपन भी

गौरवमपि कफकार्यमित्यवगन्तव्यम् ।

(५) वृषता—मैथुनशक्तिबाहुल्यमायुर्वेदे वृषत्व-मुच्यते । तत्र कफस्य शुक्रसमानगुणत्वात् शुक्रं वर्धयन् जननेन्द्रियस्य च स्थूलतां दृढतां चोत्पादयन् स्वकीयतत्तद्-गुणैरयं कफो बहु मैथुनसामर्थ्यमादधाति । शुद्धकफस्य वृषताजनकत्वात् श्लेष्मार्शसि कफे विकृते मैथुनशक्तिरप्य-पचीयते यदुक्तं क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरित्यादिकं कफजार्शो-

---

मालूम नहीं पड़ सकता है । अतएव इस प्रकार भारीपन भी कफ का ही कार्य है, ऐसा समझना चाहिए ।

५ वृषता—मैथुन शक्ति को आयुर्वेद में वृषता कहते हैं । कफ और शुक्र समानगुण वाले द्रव्य हैं अतएव शुक्र को बढ़ा कर तथा जननेन्द्रिय की स्थूलता और दृढ़ता उत्पन्न करके अपने शुक्र-वर्धक गुणों से यह कफ अधिक मैथुन शक्ति को उत्पन्न करता है । शुद्ध श्लेष्मा भी मैथुन शक्ति को बढ़ाता है अतएव श्लैष्मिक अर्शोरोग में कफ विकृत होने से मैथुन शक्ति भी घट जाती है । जैसा कि कफज अर्शोरोग के लक्षण में लिखा है कि क्लीवता, अग्निमार्दव छर्दि आदि रोग होते हैं । अतः मालूम पड़ता है कि वृषता बढ़ाने में कफ भी कारण है इससे यह नहीं समझना

लक्षणे। तस्माद् वृषतायां कफस्यापि कारणत्वमस्ति। नैतावता कफस्यैव मैथुनशक्तिजनकत्वं बोध्यं शुक्रस्यैव तत्कार्यसामर्थ्यस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्वातादिप्रकृतीनामपि मैथुनसामर्थ्यदर्शनाच्च। किन्तु समानगुणयोगित्वादधिकं शुक्रं जनयन् कफो वाताद्यपेक्षयाऽधिकं मैथुनसामर्थ्यं जनयति तस्माद्वातप्रकृतिरल्पप्रजोऽल्पमैथुनः कफप्रकृतिश्च बहुप्रजो बहुमैथुनशक्तिमान् भवतीति बोध्यम्।

(६) बलम्—स्नेहबन्धस्थिरत्वादिकारकः श्लेष्मा बलमपि जनयति, यतः—

चाहिये कि कफ ही मैथुन शक्ति को करने वाला है क्योंकि शुक्र से मैथुनशक्ति होती है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। तथा वातप्रकृति पित्तप्रकृति मनुष्यों में भी मैथुन शक्ति प्रत्यक्षसिद्ध है। कफ को वृषताकारक कहने का अभिप्राय यह है कि समान गुण से शुक्र को बढ़ाने वाला कफ वातादि की अपेक्षा से अधिक मैथुनसामर्थ्य उत्पन्न करता है इसलिये वातप्रकृति तो अल्पमैथुनशक्ति वाला तथा अल्पसन्तानवाला होता है किन्तु श्लेष्मप्रकृतिवाला अधिक मैथुनशक्ति और अधिक सन्तान वाला होता है।

६ बल—स्नेह बन्धन और स्थिरत्वादिकारक श्लेष्मा शरीर

स्निग्धं स्थिरं दृढं बद्धं शरीरं यस्य दृश्यते ।
बलीयस्त्वं च तस्यैव दृश्यते बहुधा ततः ॥
स्निग्धत्वादौ बलासो हि कारणं तस्य संगि यत् ।
बलं तच्चापि विज्ञेयं कफकार्यमिति स्थितिः ॥ इति ॥

(७) क्षमा—श्लेष्मप्रधाने शरीरे स्थिरत्वगौरवादिकारिणा कफेन व्याहतगतिर्वायुः पित्तं चाधिकं चांचल्यमुत्पादयितुं न शक्नोति। क्रोधे संजाते सर्वस्यैव पित्तं प्रकुप्यति। यदुक्तं—क्रोधात् पित्तमिति तत्र वातपित्तप्रधाने देहे

में बल को भी उत्पन्न करता है क्योंकि स्निग्ध, अच्छाबन्धन युक्त, दृढ़ और स्थिर शरीर जिसका है ऐसे मनुष्य को प्रायः बलवान देखा जाता है। शरीर की स्निग्धतादि के लिये कफ ही कारण है उन स्निग्धतादि के साथ साथ रहने वाले बल के लिये भी कफ को ही कारण मानना चाहिये।

७ क्षमा—श्लेष्मप्रधान शरीर में स्थिरता गौरव आदि उत्पन्न करने वाले श्लेष्मा से वायु और पित्त की गति में कुछ रुकावट उत्पन्न होता रहता है जिससे वायु या पित्त अधिक चंचलता को उत्पन्न नहीं कर सकता। क्रोध होने से सब ही का पित्त कुपित होता है ऐसा शास्त्र में भी लिखा है। वातिक या पैत्तिक शरीर में

क्रोधकुपितस्य पित्तस्य शान्तिश्चिरेण भवतीति तावत् क्रोधजनितोऽमर्षोऽपि तिष्ठति, किन्तु श्लेष्मप्रधाने देहे शीघ्रमेव पित्तवेगोऽवरुध्यते तस्माच्छीघ्रमेव क्रोधशान्तिः क्षमा च सञ्जायते ततोऽवगम्यते यत् क्षमाऽपि श्लेष्मणैव शीघ्रं विधीयत इति ।

(८) धृतिः—धृतिर्धैर्यमिति तुल्योर्थः । स्थिरत्वादिसाधकेन श्लेष्मणा धैर्यमपि क्रियते । अधीरतासम्पादकवातपित्तयोश्चांचल्यं स्थिरेण गुरुणा च श्लेष्मणा सेतुनेव जलस्रोतस्तथाऽवरुध्यते यथा चांचल्यं नोपजायते तस्मा-

---

क्रोध से कुपित पित्त की शान्ति देर में होती है अतएव क्रोधजनित अमर्ष (अक्षमा) भी देर तक रहता है किन्तु श्लेष्मप्रधान शरीर में क्रोध से कुपित पित्त का वेग शीघ्र शान्त होता है जिससे शीघ्र ही क्रोध की शान्ति और क्षमा आ जाती है अतएव क्षमा भी कफ का कार्य है ।

८ धृति—धैर्य अर्थात् धीरता को धृति कहते हैं । स्थिरतादि को करने वाले कफ से धैर्य भी उत्पन्न होता है । जैसे सेतु से जल के स्रोत में रुकावट उत्पन्न होती है ऐसे ही स्थिरतादिकारक कफ से अधीरताकारक वात और पित्त की गति में रुकावट हो

देव धृतिरपि कफेनैव जायते नान्येनेति।

(९) अलोभः—लोभो लोलुपत्वं चांचल्यजनकेन वायुना जन्यते, सतु स्थिरेण गुरुणा धैर्यकारकेन कफेन च सम्यगवरुध्यते तत एव लोभजनकरसानामनुत्पत्तेरलोभः सिध्यति ततोऽलोभोऽपि कफेनैव जन्यत इति।

प्रकरणेऽस्मिन् यद्‌यद्‌वातादिकार्यं वर्णितं तत्सर्वमेव प्रकृतिस्थानां वातादीनां कार्यं, विकृतानां कार्यन्तु विकृतौ

जाती है जिससे अधीरता नहीं हो सकती। अतएव धृति भी कफ से उत्पन्न होती है।

९ अलोभ—लोभ (लालच) यह चंचलताजनक वायु का कार्य है अर्थात् वातसूत्रों की उत्तेजना से एक प्रकार रस का स्राव होता है जिससे लोभ उत्पन्न होता है। वह वायु जब स्थिर गुरु और धीरताकारक कफ से अवरुद्ध होता है तो लोभजनक रस का स्राव नहीं करा सकता अतएव अलोभ रह जाता है। यह अलोभ भी कफ का ही कार्य हुआ।

इस प्रकरण में वातादि के जो जो कार्य वर्णित हुये हैं ये सब प्रकृतिस्थ (अकुपित) वातादि के कार्य हैं। विकृत वातादि के कार्य का वर्णन करने से पहिले इस बात को भी बताना आव-

नियमो नास्तीति कृत्वाऽपरिसंख्येयमेव। विकृताः खलु वातादयो बहुविधान् व्याधीन् जनयन्ति तेषां सर्वेषां नामोल्लेखोऽप्यत्र न सम्भवतीति तथापि स्थूलतः किंचिल्लिख्यते। तत्र कुपितेभ्यो दोषेभ्यो द्विविधा रोगा जायन्ते। केचिन्नानात्मजा ये तैरेव दोषैर्भवितुमर्हन्ति नान्यदोषतः, एतादृशा अशीतिर्वातविकाराश्चत्वारिंशत् पित्तविकारा विंशतिश्च

श्यक है कि "विकृति में कुछ नियम नहीं है" इस नियम के अनुसार नानाप्रकार कारणों से वातादि दोष बहुप्रकार विकृति को प्राप्त करके असंख्य रोग उत्पन्न करते रहते हैं। उन सब रोगों के नाम का उल्लेख करना भी असम्भव है। तथापि स्थूल रूप से कुछ लिखा जाता है। कुपित दोष से दो प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं।

१ नानात्मज—कुछ रोग ऐसे हैं जिनको नानात्मज कहते हैं। यह नानात्मज रोग जिस दोष से होंगे केवल उसी दोष से होंगे दूसरे दोष से नहीं हो सकते हैं। जैसे वात नानात्मज वायु से ही होंगे, पित्त या श्लेष्मा से कभी नहीं होंगे। ऐसे ही पित्त नानात्मज और श्लेष्म नानात्मज के लिये भी समझना चाहिये। वात नानात्मज रोग ८० प्रकार के, पित्त नानात्मज रोग ४० प्रकार के, तथा

श्लेष्मविकाराश्चरकमहारोगाध्याये वर्णितास्तेषां नामानि तत्रैव द्रष्टव्यानि। आत्मनो जाता आत्मजा न आत्मजा अनात्मजा अनात्मजा न भवन्तीति नानात्मजास्तस्माद्वातनानात्मजा वातेनैव जायन्ते नतु पित्तकफाभ्यामिति। तद्यथा उदावर्तो मलीभूतेन वायुनैव जन्यते, खंजत्वं पादपेशीसंचालकवातसूत्राणां संकोचादिवैकल्यादेव जायते, एकांगरोगस्तदंगचालकवातसूत्रविकृतिवशादेव जायते, सर्वाङ्गरोगः

श्लेष्म नानात्मज रोग २० प्रकार के होते हैं। इनका वर्णन चरक संहिता के महारोगाध्याय में है वहां से देख लेना चाहिये। अपने से उत्पन्न होने वाले को आत्मज कहते हैं (जैसे वातज) जो आत्मज नहीं है उसको अनात्मज तथा जो अनात्मज नहीं है उसको नानात्मज कहते हैं अतएव वात नानात्मज वायु से ही हो सकते हैं पित्त या कफ से नहीं। पित्त नानात्मज पित्त से ही हो सकते हैं और किसी से नहीं इत्यादि रूप से समझना चाहिये। दृष्टान्तसे भी समझाया जाता है, जैसे उदावर्त रोग मलीभूत वायुसे ही होता है और किसी से नहीं होता। खंजता रोग, पैर की पेशियों के सञ्चालक वातसूत्रों के संकोच आदि विकार से ही होता है। एकांग रोग (जिससे शरीर का एक अंग अचल हो जाता है) उस अंग के सञ्चालक वात सूत्रों की विकृति से होता

सर्वांगचालकवातसूत्रविकृतितो जायते न तु पित्तकफाभ्यामन्येन वा केनचित् कारणेन। एते चापरे वा नानात्मजा वातरोगा भवन्ति। ये रोगा वातसूत्रविकृतिजास्तेऽपि वातजा एव वैद्यके मन्यन्ते यतः सूत्राणां विद्युद्वाहकताम्रसूत्राणां विद्युद्वाहकत्वमिव वातवाहकत्वमात्रत्वात्तत्र कार्यकारको वायुरेव रोगकारणमिति सूक्ष्मदर्शिभिर्मन्यते स्थूलदर्शिनस्तु सूत्राण्येव दृष्ट्वा तेषामेव कारणत्वं मन्यमाना भ्रमापन्ना भवन्तीति।

है। सर्वाङ्ग रोग, सर्वाङ्ग संचालक वातसूत्रों की विकृति से होता है। पित्त कफ या और किसी कारण से ये सब या और वातनानात्मज रोग नहीं हो सकते। जो रोग वातसूत्रों की विकृति (अवसाद संकोच या अत्यधिक उत्तेजना)से उत्पन्न होते हैं उन रोगों को भी वातज रोग ही कहना चाहिये। क्योंकि वातसूत्र तो वास्तव में विद्युत को वहन करने वाले ताम्बे के तार के समान वायु को वहन करने वाले हैं। इन सूत्रों में रहकर सारे कार्यों को वायु ही करता है अतएव सूक्ष्मदर्शी लोग सूत्र को रोग का कारण न मानकर वायु को ही रोगकारण मानते हैं किन्तु स्थूलदर्शी लोग सूत्रों को प्रत्यक्ष देखकर उन्हीं को रोगकारण समझ कर भ्रम में पड़ते हैं।

एवं पित्तनानात्मजा ओषचोषदाहादयश्चत्वारिंशद्रोगा- अपि पित्तेनैवाग्नेयेन भवितुमर्हन्ति न तु वातकफाभ्याम्। रासायनिक क्रियाविशेषैरधिकोत्तापसंजननादेवौषचोष- दाहादयो जायन्त इति चेदुच्यते—रासायनिकक्रिययालीकं किंचिन्नोत्पद्यते किन्तु अन्तर्निहितमाग्नेयं पित्तमेव रासाय- निकक्रिययोत्तेजितमभिव्यक्तं चोषादीनुत्पादयतीति । किंच ये खलु बहुविधाः पाका आयुर्वेदे वर्णितास्त एव रासायनि- कपरिवर्तनशब्देनाधुनिकैरुच्यन्ते । तेच पाकाः पित्तापर-

इस प्रकार ओष चोष दाह आदि ४० प्रकार के पित्त नानात्मज रोग भी केवल आग्नेय पित्त से ही हो सकते हैं, वायु या कफ से नहीं हो सकते जो कहते हैं कि शरीर के अन्दर किसी कारण से रासायनिक क्रिया बढ़ जाने से अधिक ताप उत्पन्न होकर ओष चोष आदि उत्पन्न करता है उनको समझना चाहिये कि रासायनिक क्रिया से कोई अलीक पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु अन्त- र्निहित आग्नेय पित्त ही रासायनिक क्रिया से उत्तेजित और अभि- व्यक्त होकर ओष चोषादि उत्पन्न करता है। और भी सोचना है कि आयुर्वेद में धात्वग्नि और भौतिकाग्नि से जो बहु प्रकार के पाक का वर्णन है उन्हीं को आधुनिक वैज्ञानिक रासायनिक परिवर्तन

पर्यायवह्निजन्यास्ततः शब्दभेदेऽपि नास्ति वस्तुभेद इति मन्तव्यम् ।

एवं श्लेष्मनानात्मजा अपि तृप्तितन्द्रादिविंशतिरोगाः कफेनैव जायन्ते नतु वातपित्ताभ्यामिति । स्थिरतागौरव-साधकेन कफेन यदामाशयादीनां परिपाकसाधकानामंगानां स्थिरत्वं जन्यते महास्रोतसि वाधिक उपलेपो जन्यते तदैव पाचकरसानामनिर्गमनाद्भुक्तद्रव्याणां परिपाक उपरुध्यते

कहते हैं । वे सब ही पाक पित्त नामक वन्हि से होते हैं अतएव प्राचीन और अर्वाचीन मत में शब्दभेद रहते हुए भी वस्तुभेद इतना नहीं है ।

इस प्रकार तृप्ति तन्द्रा आदि २० प्रकारके श्लेष्मनानात्मज रोग भी श्लेष्मा से ही हो सकते हैं पित्त या वायु से नहीं हो सकते । स्थिरता गौरव आदि के जनक कफ से जब आमाशय अन्त्र आदि परिपाक साधक अङ्गों की स्थिरता आदि हो जाती है अथवा महा-स्रोत में आवश्यक से अधिक उपलेप उत्पन्न कर दिया जाता है तब पाचक अङ्गों का सञ्चालन और पाचक रसों का निःसरण ठीक २ तरह से नहीं हो सकता है जिससे भुक्त द्रव्यों के परिपाक में बाधा आ जाती है । अतः पुनर्वार भोजन करने की इच्छा नहीं होती

पुनर्भोजनेच्छाऽपि न संजायते यतस्तृप्त्यादिकमुपपद्यते। किञ्च भुक्तद्रव्यात् पोषकपदार्थानां सम्यक्शोषणं न भवतीति मलाधिक्यमुत्पद्यते स्निग्धतापि स्निग्धेन कफेन जन्यत इति। एवं गौरवादयोऽपि बोध्याः। नानात्मजरोगातिरिक्ताः सर्वे दोषजा रोगा ज्वरातीसारमेहकुष्ठादयः त्रिभिरेव दोषैर्व्यस्तसमस्तैर्जायमानत्वात् साधारणरोगाः कथ्यन्ते। तत्र सर्वविधेष्वपि रोगेषु वातादीनां कानिचिदात्मीयानि लक्षणानि जायन्ते। यान्यवलोक्य वातादीनां प्राधान्यं तत्तद्रोगेषु निश्चीयते

इस प्रकार से तृप्ति आदि उत्पन्न होती है। भुक्त द्रव्यों से पोषक पदार्थों का शोषण ठीक २ तरह से न होने से मल अधिक बनता है। स्निग्ध कफ से ही स्निग्धता हो सकती हैं इत्यादि रूप से कफज रोगों के विषय में समझना चाहिये।

२ साधारण—नानात्मज रोग के अतिरिक्त ज्वर कुष्ठ अतीसार आदि सब ही दोषज रोग साधारण रोग कहलाते हैं। क्योंकि इन रोगों को वातादि दोष पृथक् पृथक् रूप से अथवा मिलित होकर उत्पन्न कर सकते हैं अतः इनको साधारण रोग कहते हैं सब ही रोगों में वातादि दोषों के कुछ निज निज लक्षण होते हैं जिनको देख कर वातादि के प्राधान्य को निश्चित रूप से निश्चय कर

शक्यते, तथा शास्त्रेष्वनुक्तानामपि रोगाणां दोषलक्षणद्वारैव नवनामकरणं दोषानुसारिणी चिकित्सा च सम्भवति। वातादीनां स्वरूपाणि लक्षणानि च चरकमहारोगाध्याय-वर्णितानि लिख्यन्ते—

तत्र वातस्य—सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वनुक्तेषु चान्येषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तत्तदवयवं वा विमुक्तसन्देहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलास्तद्यथा रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं

सकते हैं। तथा शास्त्र में जिन रोगों का वर्णन नहीं है दोष लक्षणों से उन रोगों का नूतन नामकरण तथा उनकी चिकित्सा भी सफलता पूर्वक हो सकता है। वातादि के स्वरूप बोधक लक्षण को तथा इन्हीं से उत्पन्न होने वाले लक्षणों को चरक संहिता के महारोगाध्याय से उद्धृत किया जाता है—

उक्त और अनुक्त सर्व विध वात रोग में तथा अन्य दोष से किये हुये रोगों में भी वायु के यह अपरिणामी (अपरिवर्तनशील) स्वरूप तथा स्वकीय कर्मों के ये लक्षण हैं जिनको सम्पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से देखते ही निःसन्देह होकर कुशल चिकित्सक वात रोग करके निश्चय कर लेते हैं वह लक्षण यह है—

वैशद्यं गतिरमूर्तत्वं च वायोरात्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च वायोः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयव-

रूक्षता, शैत्य, लघुता, विशदता (अपिच्छिलता) गति और अमूर्तता (काठिन्य का अभाव) ये सब वायु के स्वरूप बोधक लक्षण हैं। वायु इन लक्षणों से युक्त होने के कारण शरीर के अवयव में प्रवेश करके निजस्व कर्मों के निम्न लिखित लक्षण उत्पन्न करता है। यथा—स्रंस (ढीलापन, यह लक्षण वातसूत्रों की शिथिलता से होता है) भ्रंश (उतर जाना वातसूत्रों की शिथिलता से होता है) व्यास (फैल जाना, यह भी वातसूत्रों की शिथिलता से होता है) संग (रुक जाना, धक्का देकर निकलने वाली पेशी के चालक वातसूत्रों की शिथिलता या दुर्बलता से होता है। जैसा गर्भ संगआदि) भेद—(भेदनवत् पीड़ा वातसूत्रों की अनावश्यक उत्तेजना से होती है) साद—(अवसाद वात सूत्रों की उत्तेजना की कमी से होता है) हर्ष—(रोमहर्ष आदि वातसूत्रों की उत्तेजना का फल है)।

तर्ष—(प्यास, वायु शोषक होने से तृष्णा के कारण होती है) कम्पावर्त (गोल जैसा बनाना) ये दोनों वातसूत्रों की अस्वाभाविक उत्तेजना से होते हैं।

चाल—(किसी अंग का अधिक चलना, यह भी वातसूत्रों

माविशतः—स्रंस-भ्रंश-व्यास-संग-भंग-साद-हर्ष-तर्ष कम्पा-
वर्त चालतोदव्यथाचेष्टादीनि तथा खरपरुषविश-
दशुषिरारुणकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिस्तम्भनसंकोचन

की उत्तेजना से होता है ।

तोद—(सूई चुभोने से जैसा दर्द) व्यथा (साधारण दर्द) और चेष्टादि (ये सब ही वातसूत्रों के अस्वाभाविक उत्तेजना के चिन्ह हैं) तथा जिस अंग में कुपित वायु है उसकी खरता (खुरदुरापन) परुषता (कर्कशता) विशदता (अपिच्छिलता) वात-सूत्रों के संकोच से जब केशिका और स्वेद स्रोत आदि संकुचित होते हैं तब उपरोक्त तीन लक्षण उत्पन्न होते हैं) शुषिर (छिद्र वायु की तीव्र गति से अंग में छिद्र भी होता है जैसा वातिक शत-योनक भगन्दर में होता है)

अरुणवर्ण—(सुर्खी वातसूत्रों की स्थिरता से अधिक रक्त सञ्चित होकर अरुणवर्ण कर देती है) मुख का जायका कषाय अथवा विरसहोना वातसूत्रों के अवसाद से लाला रस यथोचित नहीं निकलता है जिस से मुख की कषायता विरसता या मुख शोष होता है) शोष (सूख जाना) वातसूत्रों की अल्पक्रिया या निष्क्रियता से जिस अंग में पोषक पदार्थ नहीं पहुँचता है वह अंग सूखता है ।

खंजतादीनि च वायोः कर्माणि तैरन्वितं वातविकारमेवा-
ऽध्यवस्यति।

पित्तस्य—सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्ते

शूल—(वातसूत्रों की अस्वाभाविक उत्तेजना का फल है) सुप्ति स्पर्शानुभवमें अशक्ति, स्पर्शवाहक सांवेदनिक वातसूत्रोंके अवसाद से सुप्ति होती है। स्तम्भ (स्तब्धता) संकोच (सिकुड़ जाना) खंजतादि (खोड़ापन आदि ये सब ही बात सूत्रों की विकृति से होते हैं) ये सब वायु के कार्य हैं जिनको देख कर वातजन्य विकार करके निश्चय करना चाहिए। अब स्पष्ट रूप में सिद्ध हो गया है कि जिन रोग लक्षण या चिन्होंको आधुनिक मत से वात-सूत्रों के विकारजन्य मानते हैं उनको आयुर्वेद में वातजन्य मानते हैं इतना ही अन्तर है। वायु की शान्ति के लिए आयुर्वेद में स्वेदादि क्रिया का उपदेश है जिसका आधुनिक भी वातसूत्रों की विकृति को मिटाने के लिए प्रयोग करते हैं अतः दोनों मत में शब्दभेद जितना है वस्तु भेद इतना नहीं है।

उक्त अनुक्त सब ही पित्तज रोगों में अथवा अन्य दोषज रोगों में पित्त के ये अपरिवर्तनशील स्वरूप बोधक लक्षण तथा स्वकीय कर्मबोधक लक्षण होते हैं जिनको सम्पूर्ण या आंशिक रूप से देख कर कुशल वैद्य निःसन्देह होकर पित्तज रोगों का

ष्वनुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तत्तदवयवं वा विमुक्तसंदेहा पित्तविकारमध्यवस्यन्ति कुशलाः।

तद्यथा—औष्ण्यं तैक्ष्ण्यमनतिस्नेहो वर्णश्चाशुक्लो गन्धश्च विस्रो रसौ कटुकाम्लौ सरश्च पित्तस्यात्म-

---

निर्णय कर लेते हैं। वे लक्षण ये हैं—उष्णता, तीक्ष्णता, अनधिक स्नेह, शुक्लभिन्न वर्ण (हरा पीला आदि) विस्र (कच्चा मांस के सदृश) गन्ध, कटु और अम्ल रस तथा सरता ये सब पित्तके स्वरूपज्ञापक लक्षण हैं क्योंकि पित्त इस प्रकार का है अतः शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में प्रवेश करके अपने कर्म के स्वलक्षण (अव्यभिचारीलक्षण) इस प्रकार उत्पन्न करता है जैसे—दाह (जलन) उष्मा (गर्मी) पाक (पक जाना) इन तीनों के लिए रासायनिक परिवर्तनको भलेही कारण माना जावे फिर भी ये पित्त के ही कार्य होंगे क्योंकि आयुर्वेद में जो भिन्न भिन्न अग्निरूपी पित्त से भिन्न भिन्न पाकका वर्णन है वे भी रासायनिक परिवर्तन नाम से व्यवहृत होने लगे हैं यहां भी नामका ही भेद है वस्तुभेद इतना नहीं है।) स्वेद (पसीना) क्लेद (तरल मैल) ये दोनों भी पाक के परिणाम हैं जैसे जल को पकाने से वाष्प निकलता है

रूपाणि । एवम्विधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमेतस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः । दाहौष्म्यपाकस्वेद क्लेद-कोथस्रावरोगा यथास्वगन्धवर्णरसादिनिर्वर्तनं पित्तकर्माणि तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ।

श्लेष्मणः—सर्वेष्वपि खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेषु

ऐसे पित्त तापसे शरीरस्थ कुछ मलीय भाग वाष्प बनकर निकलता है वह स्वेद है जैसे इक्षु रस को पकाने से मल निकलता है ऐसे रसादि धातु के पाक से क्लेद निकालता है । कोथ (सड़ जाना) यह कीटाणु कार्य नहीं है क्योंकि कीटाणु सबको नहीं सड़ा सकते किन्तु जो स्वयं सड़ने लगते हैं उसमें कीटाणु उत्पन्न होकर उसको जल्दी सड़ा देते हैं जिसको देखकर भ्रमसे उसीको सड़ानेवाला मानते हैं वास्तव में आग्नेय पित्त ही सड़ाने वाला है यहां पित्त शब्द से यकृन्निर्गत पित्त को नहीं समझना, वह तो भुक्त द्रव्य का पचन निवारक भी है जो एक चीज का पचन निवारक है वह दूसरे का सड़ाने वाला हो सकता है स्राव (जैसे किसी द्रव पदार्थ को गर्म करने से उसमें उफान आता है ऐसे ही पित्त की गर्मी से जब रक्तादि में उफान आ जाता है तब रक्तादि का स्राव होता है यहां भी उत्तापजनक पित्त ही कारण है ।

राग—(लाली) यह लक्षण प्रायः पैत्तिक व्रण शोथादि में

चाप्यनुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तत्तद्वयवं वा विमुक्तसंदेहाः श्लेष्म विकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः। तद्यथा—श्वैत्य शैत्य गौरव स्नेहमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्नानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि, एवम्विधत्वाच्च कर्मण इदमस्य स्वलक्षणं भवति

पाया जाता है। पित्त रक्त का मल है जहां पित्त अधिक होगा वहाँ रक्त भी अधिक होगा तो लाली होगी अन्यथा नहीं। यथायथ अर्थात् पित्त में जैसा है ऐसा गन्ध वर्ण और रसादि की उत्पत्ति करना ये सब पित्त के कार्य हैं जिनसे युक्त रोग को पित्तज विकार करके निश्चय किया जाता है।

श्लेष्मा के—सब उक्त अनुक्त श्लेष्मज रोग में किम्वा दूसरे दोष से उत्पन्न रोग में भी श्लेष्मा का यह अपरिवर्तनशील स्वरूप बोधक लक्षण तथा श्लेष्मा के निजस्वकर्मबोधक लक्षण होते हैं। जिनको सम्पूर्ण या आंशिक देखकर कुशल वैद्य निःसन्देह होकर श्लेष्मज विकार करके ही निश्चय कर लेते हैं। वे लक्षण यथा श्वैत्य (शोथ भाव) शैत्य (शीत भाव) गौरव (भारीपन) स्नेह, माधुर्य (मधुरता) स्थैर्य (स्थिरता) पिच्छिलता और मृत्स्नापन (चिक्कनता) ये सब श्लेष्मा के स्वरूपज्ञापक लक्षण है। इस प्रकार लक्षणयुक्त कफ विभिन्न शरीरावयव में प्रवेश करके

तं तं शरीरावयवमाविशतः। श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्योत्सेधगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वादीनि श्लेष्मणः कर्माणि तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत्।

निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न करता है यथा—उस अंग का श्वैत्य (अनावश्यक श्लेष्मा जहां इकट्ठा होगा वह अंग सूजा सा मालूम पड़ेगा), शैत्य (सौम्य श्लेष्मा जहां अधिक होगा वहां पित्त की कमी के कारण उत्ताप कम होने से शीत मालूम पड़ेगा) कण्डू (खुजली अनावश्यक श्लेष्मा जहां संचित होता है वहां से उस को हटाने के लिये खुजली होती है) स्थिरता, उत्सेध (ऊँचाई) ये दोनों लक्षण श्लैष्मिक व्रणशोथ में स्पष्ट मालूम पड़ते हैं। गौरव (गुरुता) स्नेह, सुप्ति (अधिक श्लेष्मा से सांवेदनिक वातनाड़ी दब जाती हैं तो स्पर्श ज्ञान नहीं होता, वातिक सुप्ति में वात नाड़ी विकृत होती है इसमें विकृत नहीं होकर श्लेष्मा से दब जाती है इतना भेद है) क्लेद, उपदेह (उपलेप) बन्ध (जकड़-पन) माधुर्य (मधुर रस भी सौम्य है इसलिये श्लेष्मज रोगों में मुख मीठा मालूम पड़ता है।) चिरकारित्वादि (श्लेष्मा के आधिक्य से संचालक वात सूत्रों की क्रिया मन्द पड़ जाती है जिससे चिरकारित्व आलस्य या दीर्घसूत्रत्व होता है) ये सब श्लेष्मा के कार्य हैं जिनसे युक्त रोग को श्लैष्मिक रोग करके

एवं वातादीनामविकृतविकृतानां गुणकर्मवर्णनं संक्षेपतो लिखितमेषां विस्तरस्तु सर्वेष्वायुर्वेदग्रन्थेषु द्रष्टुं शक्यत इति। विकृतवातादीनां गुणकर्माणि श्रीमता सुदान्त सेनेन चरकात् संगृहीतानि।

तत्र वातस्य यथा—

आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्प प्रतोदाः
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः।
पारुष्यं कर्णनादो विषय परिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहाः।

निश्चय करना चाहिये। वातादि के गुण और कम संक्षेप से वर्णन किये गये, उनका विस्तृत वर्णन सब ही आयुर्वेद ग्रन्थों में देख सकते हैं।

विकृत वातादि के कर्मों का वर्णन चरकसंहिता में जैसा है उसको श्रीमान् सुदान्तसेनने संग्रह श्लोकाकारमें बनाया है जैसे–आध्मान, स्तम्भ, रूक्षता, स्फुटन, विमथन (मन्थनवत् पीड़ा), क्षोभ, कम्प, प्रतोद (सुई चुभोने के जैसा दर्द) कण्ठध्वंस (आवाज़ बैठ जाना) अवसाद, थकावट, विलपन (अधिक बोलना या रोना) स्रंस, शूल, प्रभेद (विदारणवत् पीड़ा अथवा फट जाना) परुषता, कान में शब्द होना, शब्दादि विषयों का अयथार्थ ज्ञान

विष्पन्दोद्घट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ॥
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षौ
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरता छेदनं वेष्टनं च ।
वर्णः श्यावोऽरुणोवा तृडपिच महती स्वापविश्लेष संगाः।
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्च ॥
पित्तस्य—
विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ।

दृष्टि का प्रमोह, विस्पन्द, उद्घट्टन (घोटने की सी पीड़ा) ग्लानि अनिद्रा, ताडन, पीडन, नाम और उन्नाम अर्थात् ऊपर चढ़ने की या नीचे गिरने की अनुभूति (जैसे भांग के नशे से होता है) विषाद, भ्रम, परिपतन (गिर जाना) जम्भाई, रोमांच, विक्षेप, आक्षेप, शोष, ग्रहण, शुषिरता, छेदन, वेष्टन, श्याव (सलेटी) अथवा अरुणवर्ण, अत्यन्त तृष्णा, निद्रानाश अथवा अतिनिद्रा (अथवा सुप्ति विश्लेष और संग) मुख में कषाय रस होना ये सब प्रकुपित वायु के कार्य हैं ।

विकृत पित्त के कार्य—विस्फोटक, अम्लोद्गार, धूमोद्गार, प्रलाप, स्वेदस्राव, मच्छी, दुर्गन्धता, विदारण, मद, विसरण,पाक,

उष्माऽतृप्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा
वर्णाः पाण्डुविवर्जितः क्थिततता कर्माणिपित्तस्य वै ॥

कफस्य—

तृप्ति स्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्
स्नेहापक्त्युपलेपः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ।
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौपटुस्वादू
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयादिति ।
नानाविधेषु व्याधिषु यत्र यस्य दोषस्य यावल्लक्षणं

अरति तृष्णा, भ्रम, उष्मा, अतृप्ति, तमःप्रवेश (अन्धकार देखना), दाह, मुख में कटु अम्ल या तिक्त रस मालूम होना श्वेतवर्ण को छोड़ कर सब वर्ण, कथितता ये सब प्रकुपित पित्त के कार्य हैं ।

कुपित कफ के कार्य—तृप्ति, तन्द्रा, गुरुता, स्तैमित्य (गीले कपड़ेसे लिपटा हुआ सा मालूम होना) कठिनता, मलाधिक्य, स्नेह, अपरिपाक, उपलेप, शैत्य, कण्डु (खुजली), प्रसेक (थूक अधिक आना) चिरकर्तृत्व, शोथ, निद्राधिक्य, लवण या मधुर रस मुख में होना) श्वेतवर्ण आर अलसता ये सब कुपित कफ के कार्य करके जानना चाहिये । नाना विध रोग में जहां जिस दोष के

दृश्यते तत्र तस्य तावती विकृतिर्ज्ञायते ।
भवतिच-प्रकृतानां त्रिदोषणां विकृतानां तथैव च ।
गुणानां कर्मणाञ्चैव कृतमत्र विवेचनम् ॥

इति वातादीनां गुणकर्मवर्णनाख्योऽष्टमोऽध्यायः ।

जितने जितने लक्षण मालूम पड़ते हैं वहां उस दोष की उतनी विकृति समझी जाती है ।

संग्रह श्लोक की व्याख्या—इस अध्याय में प्राकृत और विकृत वातादि के गुण और कर्म्मों का विवेचन किया गया है ।

वातादिके गुणकर्म विवेचन नामक अष्टम अध्याय समाप्त ।

नवमोऽध्यायः

वातादीनां स्वरूपं तेषां प्रत्येकशः पञ्चविधत्वं वास्तविकं काल्पनिकं वा तथा तत्स्थानकार्यभेदोत्पन्नं वा तत्स्वरूपभेदोत्पन्नं वा ?

तत्र वातस्वरूपमभिहितं श्रीमता चरकाचार्येण तद्यथा "रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्त्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि" इति। वायुशब्दघटक "वा" धातोर्गतिप्राप्ति ज्ञानसाधको वायुरित्यर्थो लभ्यते। एवं यौगिक पारिभाषि-

---

वातादि के स्वरूप, उनके प्रत्येक के पांच २ प्रकार के विभाग वास्तविक हैं या काल्पनिक ? तथा वह विभाग स्थान और कार्य भेद से हुआ अथवा स्वरूपभेद से हुआ है—

वात का स्वरूप श्रीमान् चरक जी ने लिखा है कि—रुक्षता, शैत्य, लाघव, विशदता, गति और अमूर्तता (विशिष्ट आकार का न होना) वायु का स्वरूप है। गति अर्थविशिष्ट 'वा' धातु से वायु शब्द बना है। गत्यर्थक धातु से प्राप्ति अर्थ और ज्ञान अर्थ भी समझा जाता है अतएव वायु शब्द के अर्थ को देखकर गति, प्राप्ति और ज्ञान को उत्पन्न करने वाले को वायु कहना पड़ता है।

कार्थानामालोचनादवगम्यते जीवच्छरीरे सामान्यतो गति-साधको विशेषतश्च रूक्षतशैत्यलाघववैशद्यादि साधको विशिष्टमूर्तिरहितः पाञ्चभौतिकोऽपि वायुभूतप्रधानो यः सञ्चालकसांवेदनिकवातसूत्राणां यथोचितसञ्चालनादि द्वारा गतिप्राप्तिज्ञानान्युत्पादयति यश्च विकृत स्तेषामेव वातसूत्राणां क्रियावैषम्यमापादयति रूक्षतादिकं च जनयति स एव वायुरिति वातस्वरूपमवगन्तव्यम् । स एव वायुः स्थानकर्मभेदात् पञ्चधा प्रविभक्तो नियमेन स्वं स्वं कार्यं

इस प्रकार यौगिक और पारिभाषिक अर्थ की आलोचना से मालूम पड़ता है कि जीवित शरीर में सामान्य रूप से गति के उत्पादक और विशेष रूप से रुक्षता शैत्य लघुता विशदतादि को करने वाला विशिष्ट आकार रहित पांचभौतिक होकर भी वायु भूतप्रधान जो द्रव्य सञ्चालक वात नाड़ी और सांवेदनिक वात-नाड़ी समूह का यथोचित सञ्चालनादि द्वारा गति, प्राप्ति और ज्ञान को उत्पन्न करता है तथा जो विकृत होकर उन वातसूत्रों की क्रिया में विषमता उत्पन्न कर देता है और रुक्षतादि को उत्पन्न करता है वह ही वायु है, वायुका ऐसा स्वरूप समझना चाहिये ।

वह वायु स्थान और कर्मों के भेद से पांच प्रकार में विभक्त

करोति । यदुक्तं सुश्रुतेन—

यथाग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानात्मकर्मभिः ।
भिन्नोऽनिलस्तथाह्येको नामस्थानक्रियामयैः ।
प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥

तत्र प्राणः—

वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नामदेहधृक् ।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ।

होकर नियम पूर्वक अपने २ कार्य को करता रहता है। सुश्रुतजी ने लिखा है कि—जैसे एक ही अग्नि नाम, स्थान, स्वरूप और कर्म के भेद से पांच प्रकार विभक्त होती है ऐसे एक ही वायु, नाम स्थान, क्रिया और राग करने के भेद से पांच प्रकार से विभक्त होता है। प्राण,उदान समान,व्यान और अपान इन नामों से परिचित पांच प्रकार के वायु अपने २ स्थान में रहकर और अपने २ कार्य को करते हुये शरीर की रक्षा करते हैं।

प्राण वायु—जो वायु मुख में सञ्चार करने वाला है उसको प्राणवायु कहते हैं। वह अन्नको अन्दर प्रवेश कराता है तथा अन्य सब प्राणोंको (वायुको) अवलम्बन करता है। प्राणवायु दुष्ट होकर

प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान् ॥ इति
एतेन विज्ञायते यत्—
हृत्फुफ्फुसान्ननालीनां सङ्कोचादिर्यतो भवेत् ।
तेषां प्रसारणं चैव श्वासान्नयोः प्रवेशनम् ॥
प्राणवायुः स विख्यातो गृहीत्वा स नभोऽमृतम् ।
प्राणानालम्बते तस्मात् प्राणःस परिकीर्त्यते ॥
अस्य दुष्ट्यां हृदादीनां क्रिया सम्यक् न जायते ।
तस्मादेव भवेद्रोगो हिक्काकासादिसंज्ञकः ॥
प्राणवायुसमायुक्तः प्राणीति परिकथ्यते ।

हिक्काश्वास आदि रोगों को उत्पन्न करता है। इस वर्णनसे समझा जाता है कि हृदय फुप्फुस, अन्ननाली आदि अङ्गों के सञ्चालन और प्रसारण (जिससे श्वासवायु का अन्दर बाहर जाना और अन्न का अन्दर जाना होता है) जिस वायु से होता वह प्राण वायु कहलाता है। यह प्राणवायु नभोमृत (ओक्सिजन्) को वायुमण्डल से ग्रहण करके और सब प्राणों को धारण करता है अतः यह प्राण कहलाता है। इस वायु की विकृति होने से हृदय फुप्फुस आदि की क्रिया ठीक २ तरह से नहीं होती है जिससे हिक्का श्वास आदि रोग की उत्पत्ति होती है। जो शरीर प्राणवायु

प्राणहीनो मृतो लोके जडो वा परिगण्यते ॥
तस्मात् सर्वेषु वातेषु प्राणः श्रेष्ठ इतिस्थितिः ॥

उदानवायुः—

उदानो नाम यस्तूद्र्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽपि प्रवर्त्तते ॥
ऊद्र्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति स विशेषतः ॥ इति

एतेन विज्ञायते—

स्वरयन्त्रोत्तमाङ्गस्थपेशीनां चालकानि यः ।
सूत्राणि स्वस्वकार्येषु प्रेरयेज्ज्ञानसिद्धये ॥

से सम्यक् युक्त है वह प्राणी कहलाता है, प्राणहीन को जगत में मृत अथवा जड़ (अचेतन) में गिनते हैं। अतएव पांचों वायुमें प्राणवायु सर्व श्रेष्ठ हैं ऐसा सिद्धान्त है। (प्राण की श्रेष्ठता उपनिषत् में भी वर्णित है।)

उदानवायु—जो वायु ऊपर चढ़ता है जिससे बोलना गाना आदि निष्पन्न होते हैं ऐसे वायु को उत्—ऊद्र्ध्व गमनशील होने से उदान कहते हैं। यह वायु कुपित होकर खास करके ऊद्र्ध्व-जत्रुगत रोग (शिरोरोग, कर्णरोग, दन्तरोग, मुखरोग आदि) को उत्पन्न करता है। इससे मालूम पड़ता है कि स्वरयन्त्र के तथा

सांवेदनिकसूत्राणि शिरःस्थानि च चालयेत् ।
अनित्यूर्ध्वमतस्तस्य नामोदानं वदन्ति हि ॥
शिरोनेत्रादिजा रोगा जायन्ते तद्विकारतः ।
समानोवायुः—
आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसंगतः ।
सोऽन्नं पचति तज्जाँश्च विशेषान् विविनक्ति हि ॥
गुल्माग्निसंगातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान् ।
एतेन विज्ञायते—आमाशयग्रहणीयकृदग्न्याशय क्षुद्रा-

उत्तमांगके पेशियोंके सञ्चालक वातसूत्रोंको जो वायु अपने २ कार्यों में प्रेरित करता है तथा ज्ञानोत्पत्तिके लिये शिरःस्थ सांवेदनिक सूत्रों को जो चलाता है वह वायु ऊर्ध्व का जाने के कारण उदान (ऊपर जाने वाला) कहलाता है अथवा ऊपर के अङ्गों को जीवित रखने से उदान कहलाता है इस वायु की विकृति से शिरोरोग नेत्ररोग आदि गर्दन के ऊपर के खास रोग होते हैं ।

समानवायु—आमाशय से पक्वाशय तक भ्रमण करने वाला जो वायु पाचकाग्नि के साथ मिलित होकर अन्न का परिपाक कराता है तथा भुक्त अन्न से उत्पन्न होने वाले विभिन्न पदार्थों को पृथक् करता है उस वायु को समान वायु कहते हैं । यह वायु कुपित होकर गुल्म मन्दाग्नि अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करता

न्त्रादीनां परिपाकक्रियासहायकानामङ्गानां संकोच विकाशादयो यासां पेशीनां क्रियाभिर्भवन्ति तासां पेशीनां संञ्चालकानि यानि वातसूत्राणि तत्रावस्थितो यो वायुरेषामङ्गानां यथावश्यकसङ्कोचनादिद्वारा भुक्त द्रव्यस्थयो रसमलयो र्विभागमापादयति स एव सममनिती तिसमानो वायुरिति संज्ञां लभते। एतस्यैव वायोर्विकृतौ परिपाकसहायकानामङ्गानां यथावश्यकक्रियाभावादनावश्यको-धिकक्रियोत्पन्नाच्च गुल्ममन्दाग्न्यतीसारादयो रोगा जायन्ते।

है। इससे समझा जाता है कि–आमाशय, ग्रहणी यकृत् अग्न्याशय क्षुद्रान्त्र प्रभृति परिपाक क्रिया के सहायक अङ्गों का संकोच विकाशादि जिन पेशियों की क्रिया से होते हैं उन पेशियों का सञ्चालन करना जिन वातसूत्रों का कार्य है उन वातसूत्रों में रहकर जो वायु अङ्गों का यथोचित् संकोच विकाशादि द्वारा भुक्त द्रव्यों से रस और मल को पृथक् २ कर देता है वह ही समानवायु है। समानता से प्राण धारण करके समान नाम को प्राप्त करता है। इस वायु की विकृति से परिपाक के सहायक अङ्गों की क्रिया ठीक २ तरह से नहीं होती, उन अङ्गों की आवश्यक क्रिया न होने से गुल्म, मन्दाग्नि, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

व्यानो वायुः—

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ।
स्वेदासृक्स्रवणो वापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहजान् ॥

एतेन विज्ञायते—सर्वशरीरप्रसृतानां सिराधमनीकेशिकास्वेदग्रन्थ्यादिसञ्चालकवातसूत्राणामुद्योतको वायुरेव विशेषेण समन्तादनितीति व्यानसंज्ञां लभते । अत्रैतदव-

---

व्यानवायु—सारे शरीर में भ्रमण करने वाला जो वायु "रससंवहन" कार्य को करता है स्वेद का और रक्त का स्राव कराता है तथा पंचविध चेष्टायें कराता है उसको व्यान वायु कहते हैं। यह वायु कुपित होकर प्रायः सर्वाङ्ग व्यापी रोग उत्पन्न करता है।

इससे मालूम पड़ता है कि—सिरा धमनी केशिका स्वेदग्रन्थि आदि को सञ्चालित करने वाले सारे शरीरमें फैले हुये वातसूत्रोंका सञ्चालन तथा सारे शरीर में फैले हुये सांवेदनिक वातसूत्रों का उद्योतक वायु ही व्यानवायु है। यह वायु विशेषरूपसे चारों तरफ फैलकर शरीर को जीवित रखता है इसलिये व्यान संज्ञा को प्राप्त करता है।

धेयं यदाधुनिकै रक्तपरिभ्रमणसंज्ञया या क्रिया जीवनधारिणी वर्णिता साऽज्ञानादायुर्वेदे न वर्णितेति भृशमाक्षिप्यते। किन्तु सैव प्राणधारिणी क्रियायुर्वेदे रससंवाहन शब्देनाभिहिता। यदुक्तं भगवता सुश्रुतेन—स (रसः) हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनी रनुप्रविश्य कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति जीवयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणेति।

यहां इतना ख्याल करना चाहिये कि—आधुनिक चिकित्साशास्त्र में रक्तपरिभ्रमण नाम से प्राण की रक्षा करने वाली जिस क्रिया का वर्णन है अज्ञानतावशतः आयुर्वेद में उसका वर्णन नहीं किया गया ऐसा भारी आक्षेप किया जाता है किन्तु वह ही क्रिया आयुर्वेद में रस संवाहन नाम से वर्णित हुई है। जैसे भगवान् सुश्रुतजी ने लिखा है कि वह रस हृदय से चौबीस धमनियों में प्रविष्ट होकर सारे शरीर को सर्वदा तृप्त करता है बढ़ाता है, धारण करता है यापन करता है अर्थात् प्रश्वासादि द्वारा अनावश्यक और घातक द्रव्यों को बाहर फेंकता हुआ शरीर की रक्षा करता है और शरीरको जीवित रखता है। अचेतन रस कार्य को क्यों करता है इसका उत्तर है कि अदृष्ट हेतुक कर्म ही रस को इतने कार्य कराता है।

श्रीमता चरकेणाप्युक्तम्—"व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा"। इति ननु रक्तपरिभ्रमणं प्रत्यक्षसिद्धं तस्य रससंवहनसंज्ञा प्रत्यक्षविरुद्धा कथं संगच्छत इति चेदुच्यते भुक्तद्रव्यात् पोषणकर्मा रस एव शरीरे संशोष्यते नतु रक्तं तस्माद्रक्तस्यैव शरीरपोषकत्वं कल्पयितुं न शक्यते। यतस्तस्यापि पोषको रस एव। तस्माद्रसस्यैव सर्वशरीरपोषकत्वं युक्तिसिद्धमिति।

श्रीमान् चरक जी ने भी लिखा है कि—विक्षेप कर्म करने में अभ्यस्त व्यान वायु से रस धातु युगपत् सारे शरीर में सर्वदा प्रचुर परिमाण में विक्षिप्त होता है। यहां शंका होती है कि रक्त परिभ्रमण तो प्रत्यक्ष सिद्ध है उसके लिए प्रत्यक्षविरुद्ध रस संवहन संज्ञा किस प्रकार से संगत हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि भुक्त द्रव्य से शरीर को पोषण करने वाले रस का ही शोषण होता है रक्त का शोषण नहीं होता है (यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है) अतएव "रक्त ही शरीर का पोषक है" ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि रक्त का पोषक भी रस है अतः रस को ही सर्व शरीर का पोषक कहना युक्ति सिद्ध होता है।

चाप्यनुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तत्तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः श्लेष्म विकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः। तद्यथा—श्वैत्य शैत्य गौरव स्नेहमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्नानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि, एवम्विधत्वाच्च कर्मण इदमस्य स्वलक्षणं भवति

पाया जाता है। पित्त रक्त का मल है जहां पित्त अधिक होगा वहाँ रक्त भी अधिक होगा तो लाली होगी अन्यथा नहीं। यथायथ अर्थात् पित्त में जैसा है ऐसा गन्ध वर्ण और रसादि की उत्पत्ति करना ये सब पित्त के कार्य हैं जिनसे युक्त रोग को पित्तज विकार करके निश्चय किया जाता है।

श्लेष्मा के—सब उक्त अनुक्त श्लेष्मज रोग में किम्वा दूसरे दोष से उत्पन्न रोग में भी श्लेष्मा का यह अपरिवर्तनशील स्वरूप बोधक लक्षण तथा श्लेष्मा के निजस्वकर्मबोधक लक्षण होते हैं। जिनको सम्पूर्ण या आंशिक देखकर कुशल वैद्य निःसन्देह होकर श्लेष्मज विकार करके ही निश्चय कर लेते हैं। वे लक्षण यथा श्वैत्य (शोथ भाव) शैत्य (शीत भाव) गौरव (भारीपन) स्नेह, माधुर्य (मधुरता) स्थैर्य (स्थिरता) पिच्छिलता और मृत्स्नापन (चिक्कनता) ये सब श्लेष्मा के स्वरूपज्ञापक लक्षण है। इस प्रकार लक्षणयुक्त कफ विभिन्न शरीरावयव में प्रवेश करके

तं तं शरीरावयवमाविशतः। श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्योत्सेध गौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहवन्धमाधुर्यचिरकारित्वादीनि श्लेष्मणः कर्माणि तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत् ।

निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न करता है यथा—उस अंग का श्वैत्य (अनावश्यक श्लेष्मा जहां इकट्ठा होगा वह अंग सूजा सा मालूम पड़ेगा), शैत्य (सौम्य श्लेष्मा जहां अधिक होगा वहां पित्त की कमी के कारण उत्ताप कम होने से शीत मालूम पड़ेगा) कण्डू (खुजली अनावश्यक श्लेष्मा जहां संचित होता है वहां से उस को हटाने के लिये खुजली होती है) स्थिरता, उत्सेध (ऊँचाई) ये दोनों लक्षण श्लैष्मिक व्रणशोथ में स्पष्ट मालूम पड़ते हैं। गौरव (गुरुता) स्नेह, सुप्ति (अधिक श्लेष्मा से सांवेदनिक वातनाड़ी दब जाती हैं तो स्पर्श ज्ञान नहीं होता, वातिक सुप्ति में वात नाड़ी विकृत होती है इसमें विकृत नहीं होकर श्लेष्मा से दब जाती है इतना भेद है) क्लेद, उपदेह (उपलेप) वन्ध (जकड़पन) माधुर्य (मधुर रस भी सौम्य है इसलिये श्लेष्मज रोगों में मुख मीठा मालूम पड़ता है।) चिरकारित्वादि (श्लेष्मा के आधिक्य से संचालक वात सूत्रों की क्रिया मन्द पड़ जाती है जिससे चिरकारित्व आलस्य या दीर्घसूत्रत्व होता है) ये सब श्लेष्मा के कार्य हैं जिनसे युक्त रोग को श्लैष्मिक रोग करके

एवं वातादीनामविकृतविकृतानां गुणकर्मवर्णनं संक्षेपतो लिखितमेषां विस्तरस्तु सर्वेष्वायुर्वेदग्रन्थेषु द्रष्टुं शक्यत इति। विकृतवातादीनां गुणकर्माणि श्रीमता सुदान्त सेनेन चरकात् संगृहीतानि।

तत्र वातस्य यथा—

आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्प प्रतोदाः
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः।
पारुष्यं कर्णनादो विषय परिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहाः।

निश्चय करना चाहिये। वातादि के गुण और कम संक्षेप से वर्णन किये गये, उनका विस्तृत वर्णन सब ही आयुर्वेद ग्रन्थों में देख सकते हैं।

विकृत वातादिके कर्मों का वर्णन चरकसंहिता में जैसा है उसको श्रीमान् सुदान्तसेनने संग्रह श्लोकाकारमें बनाया है जैसे–आध्मान, स्तम्भ, रूक्षता, स्फुटन, विमथन (मन्थनवत् पीड़ा), क्षोभ, कम्प, प्रतोद (सुई चुभोने के जैसा दर्द) कण्ठध्वंस (आवाज़ बैठ जाना) अवसाद, थकावट, विलपन (अधिक बोलना या रोना) स्रंस, शूल, प्रभेद (विदारणवत् पीड़ा अथवा फट जाना) परुषता, कान में शब्द होना, शब्दादि विषयों का अयथार्थ ज्ञान

विष्पन्दोद्घट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ॥
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षों
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरता छेदनं वेष्टनं च ।
वर्णः श्यावोऽरुणोवा तृडपिच महती स्वापविश्लेष संगाः।
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्च ॥

पित्तस्य—

विस्फोटाम्ल.कधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ।

दृष्टि का प्रमोह, विस्पन्द, उद्घट्टन (घोटने की सी पीड़ा) ग्लानि अनिद्रा, ताडन, पीडन, नाम और उन्नाम अर्थात् ऊपर चढ़ने की या नीचे गिरने की अनुभूति (जैसे भांग के नशे से होता है) विषाद, भ्रम, परिपतन (गिर जाना) जम्भाई, रोमांच, विक्षेप, आक्षेप, शोष, ग्रहण, शुषिरता, छेदन, वेष्टन, श्याव (सलेटी) अथवा अरुणवर्ण, अत्यन्त तृष्णा, निद्रानाश अथवा अतिनिद्रा (अथवा सुप्ति विश्लेष और संग) मुख में कषाय रस होना ये सब प्रकुपित वायु के कार्य हैं ।

विकृत पित्त के कार्य—विस्फोटक, अम्लोद्गार, धूमोद्गार, प्रलाप, स्वेदस्राव, मच्छा, दुर्गन्धता, विदारण, मद, विसरण,पाक,

उष्माऽतृप्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा
वर्णः पाण्डुविवर्जितः कथितता कर्माणिपित्तस्य वै ॥

कफस्य—

तृप्ति स्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्
स्नेहापक्त्युपलेपः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ।
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौपटुस्वादू
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयादिति ।
नानाविधेषु व्याधिषु यत्र यस्य दोषस्य यावल्लक्षणं

अरति तृष्णा, भ्रम, उष्मा, अतृप्ति, तमःप्रवेश (अन्धकार देखना), दाह, मुख में कटु अम्ल या तिक्त रस मालूम होना श्वेतवर्ण को छोड़ कर सब वर्ण, कथितता ये सब प्रकुपित पित्त के कार्य हैं ।

कुपित कफ के कार्य—तृप्ति, तन्द्रा, गुरुता, स्तैमित्य (गीले कपड़ेसे लिपटा हुआ सा मालूम होना) कठिनता, मलाधिक्य, स्नेह, अपरिपाक, उपलेप, शैत्य, कण्डु (खुजली), प्रसेक (थूक अधिक आना) चिरकर्तृत्व, शोथ, निद्राधिक्य, लवण या मधुर रस मुख में होना) श्वेतवर्ण और अलसता ये सब कुपित कफ के कार्य करके जानना चाहिये । नाना विध रोग में जहां जिस दोष के

दृश्यते तत्र तस्य तावती विकृतिर्ज्ञायते ।
भवतिच-प्रकृतानां त्रिदोषणां विकृतानां तथैव च ।
गुणानां कर्मणाञ्चैव कृतमत्र विवेचनम् ॥

इति वातादीनां गुणकर्मवर्णनाख्योऽष्टमोऽध्यायः ।

जितने जितने लक्षण मालूम पड़ते हैं वहां उस दोष की उतनी विकृति समझी जाती है ।

संग्रह श्लोक की व्याख्या—इस अध्याय में प्राकृत और विकृत वातादि के गुण और कर्म्मों का विवेचन किया गया है ।

वातादिके गुणकर्म विवेचन नामक अष्टम अध्याय समाप्त ।

नवमोऽध्यायः

वातादीनां स्वरूपं तेषां प्रत्येकशः पञ्चविधत्वं वास्तविकं काल्पनिकं वा तथा तत्स्थानकार्यभेदोत्पन्नं वा तत्स्वरूपभेदोत्पन्नं वा ?

तत्र वातस्वरूपमभिहितं श्रीमता चरकाचार्येण तद्यथा "रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्त्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि" इति। वायुशब्दघटक "वा" धातोर्गतिप्राप्ति ज्ञानसाधको वायुरित्यर्थो लभ्यते। एवं यौगिक पारिभाषि-

---

वातादि के स्वरूप, उनके प्रत्येक के पांच २ प्रकार के विभाग वास्तविक हैं या काल्पनिक ? तथा वह विभाग स्थान और कार्य भेद से हुआ अथवा स्वरूपभेद से हुआ है—

वात का स्वरूप श्रीमान् चरक जी ने लिखा है कि—रूक्षता, शैत्य, लाघव, विशदता, गति और अमूर्तता (विशिष्ट आकार का न होना) वायु का स्वरूप है। गति अर्थविशिष्ट 'वा' धातु से वायु शब्द बना है। गत्यर्थक धातु से प्राप्ति अर्थ और ज्ञान अर्थ भी समझा जाता है अतएव वायु शब्द के अर्थ को देखकर गति, प्राप्ति और ज्ञान को उत्पन्न करने वाले को वायु कहना पड़ता है।

कार्थानामालोचनादवगम्यते जीवच्छरीरे सामान्यतो गति-साधको विशेषतश्च रूक्षतशैत्यलाघववैशद्यादि साधको विशिष्टमूर्तिरहितः पाञ्चभौतिकोऽपि वायुभूतप्रधानो यः सञ्चालकसांवेदनिकवातसूत्राणां यथोचितसञ्चालनादि द्वारा गतिप्राप्तिज्ञानान्युत्पादयति यश्च विकृत स्तेषामेव वातसूत्राणां क्रियावैषम्यमापादयति रूक्षतादिकं च जनयति स एव वायुरिति वातस्वरूपमवगन्तव्यम् । स एव वायुः स्थानकर्मभेदात् पञ्चधा प्रविभक्तो नियमेन स्वं स्वं कार्यं

इस प्रकार यौगिक और पारिभाषिक अर्थ की आलोचना से मालूम पड़ता है कि जीवित शरीर में सामान्य रूप से गति के उत्पादक और विशेष रूप से रुक्षता शैत्य लघुता विशदतादि को करने वाला विशिष्ट आकार रहित पांचभौतिक होकर भी वायु भूतप्रधान जो द्रव्य सञ्चालक वात नाड़ी और सांवेदनिक वात-नाड़ो समूह का यथोचित सञ्चालनादि द्वारा गति, प्राप्ति और ज्ञान को उत्पन्न करता है तथा जो विकृत होकर उन वातसूत्रों की क्रिया में विषमता उत्पन्न कर देता है और रुक्षतादि को उत्पन्न करता है वह ही वायु है, वायुका ऐसा स्वरूप समझना चाहिये ।

वह वायु स्थान और कर्मों के भेद से पांच प्रकार में विभक्त

करोति । यदुक्तं सुश्रुतेन—

यथाग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानात्मकर्मभिः ।
भिन्नोऽनिलस्तथाह्येको नामस्थानक्रियामयैः ।
प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥

तत्र प्राणः—

वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नामदेहधृक् ।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ।

होकर नियम पूर्वक अपने २ कार्य को करता रहता है। सुश्रुतजी ने लिखा है कि—जैसे एक ही अग्नि नाम, स्थान, स्वरूप और कर्म के भेद से पांच प्रकार विभक्त होती है ऐसे एक ही वायु, नाम स्थान, क्रिया और राग करने के भेद से पांच प्रकार से विभक्त होता है। प्राण, उदान समान, व्यान और अपान इन नामों से परिचित पांच प्रकार के वायु अपने २ स्थान में रहकर और अपने २ कार्य को करते हुये शरीर की रक्षा करते हैं।

प्राण वायु—जो वायु मुख में सञ्चार करने वाला है उसको प्राणवायु कहते हैं। वह अन्नको अन्दर प्रवेश कराता है तथा अन्य सब प्राणोंको (वायुको) अवलम्बन करता है। प्राणवायु दुष्ट होकर

प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान् ।।इति
एतेन विज्ञायते यत्—

हृत्फुफ्फुसान्ननालीनां सङ्कोचादिर्यतो भवेत् ।
तेषां प्रसारणं चैव श्वासान्नयोः प्रवेशनम् ।।
प्राणवायुः स विख्यातो गृहीत्वा स नभोऽमृतम् ।
प्राणानालम्बते तस्मात् प्राणःस परिकीर्त्यते ।।
अस्य दुष्ट्यां हृदादीनां क्रिया सम्यक् न जायते ।
तस्मादेव भवेद्रोगो हिक्काकासादिसंज्ञकः ।।
प्राणवायुसमायुक्तः प्राणीति परिकथ्यते ।

हिक्काश्वास आदि रोगों को उत्पन्न करता है । इस वर्णनसे समझा जाता है कि हृदय फुप्फुस, अन्ननाली आदि अङ्गों के सञ्चालन और प्रसारण (जिससे श्वासवायु का अन्दर बाहर जाना और अन्न का अन्दर जाना होता है) जिस वायु से होता वह प्राण वायु कहलाता है । यह प्राणवायु नभोमृत (ओक्सिजन्) को वायुमण्डल से ग्रहण करके और सब प्राणों को धारण करता है अतः यह प्राण कहलाता है । इस वायु की विकृति होने से हृदय फुप्फुस आदि की क्रिया ठीक२ तरह से नहीं होती है जिससे हिक्का श्वास आदि रोग की उत्पत्ति होती है । जो शरीर प्राणवायु

प्राणहीनो मृतो लोके जडो वा परिगण्यते ॥
तस्मात् सर्वेषु वातेषु प्राणः श्रेष्ठ इतिस्थितिः ॥

उदानवायुः—

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽपि प्रवर्त्तते ॥
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति स विशेषतः ॥ इति

एतेन विज्ञायते—

स्वरयन्त्रोत्तमाङ्गस्थपेशीनां चालकानि यः ।
सूत्राणि स्वस्वकार्येषु प्रेरयेज्ज्ञानसिद्धये ॥

से सम्यक् युक्त है वह प्राणी कहलाता है, प्राणहीन को जगत में मृत अथवा जड़ (अचेतन) में गिनते हैं । अतएव पांचों वायुमें प्राणवायु सर्व श्रेष्ठ हैं ऐसा सिद्धान्त है । (प्राण की श्रेष्ठता उपनिषत् में भी वर्णित है ।)

उदानवायु—जो वायु ऊपर चढ़ता है जिससे बोलना गाना आदि निष्पन्न होते हैं ऐसे वायु को उत्—ऊर्ध्व गमनशील होने से उदान कहते हैं । यह वायु कुपित होकर खास करके ऊर्ध्व-जत्रुगत रोग (शिरोरोग, कर्णरोग, दन्तरोग, मुखरोग आदि) को उत्पन्न करता है । इससे मालूम पड़ता है कि स्वरयन्त्र के तथा

सांवेदनिकसूत्राणि शिरःस्थानि च चालयेत् ।
अनित्यूद्र्ध्वमतस्तस्य नामोदानं वदन्ति हि ॥
शिरोनेत्रादिजा रोगा जायन्ते तद्विकारतः ।

समानोवायुः—

आमपक्काशयचरः समानो वह्निसंगतः ।
सोऽन्नं पचति तज्ञाँश्च विशेषान् विविनक्ति हि ॥
गुल्माग्निसंगातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान् ।

एतेन विज्ञायते—आमाशयग्रहणीयकृदग्न्याशय क्षुद्रा-

उत्तमांगके पेशियोंके सञ्चालक वातसूत्रोंको जो वायु अपने २ कार्यों में प्रेरित करता है तथा ज्ञानोत्पत्तिके लिये शिरःस्थ सांवेदनिक सूत्रों को जो चलाता है वह वायु ऊद्र्ध्व का जाने के कारण उदान (ऊपर जाने वाला) कहलाता है अथवा ऊपर के अङ्गों को जीवित रखने से उदान कहलाता है इस वायु की विकृति से शिरोरोग नेत्ररोग आदि गर्दन के ऊपर के खास रोग होते हैं ।

समानवायु—आमाशय से पक्काशय तक भ्रमण करने वाला जो वायु पाचकाग्नि के साथ मिलित होकर अन्न का परिपाक कराता है तथा भुक्त अन्न से उत्पन्न होने वाले विभिन्न पदार्थों को पृथक् करता है उस वायु को समान वायु कहते हैं । यह वायु कुपित होकर गुल्म मन्दाग्नि अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करता

न्त्रादीनां परिपाकक्रियासहायकानामङ्गानां संकोच विकाशादयो यासां पेशीनां क्रियाभिर्भवन्ति तासां पेशीनां सञ्चालकानि यानि वातसूत्राणि तत्रावस्थितो यो वायुरेषामङ्गानां यथावश्यकसङ्कोचनादिद्वारा भुक्त द्रव्यस्थयो रसमलयो र्विभागमापादयति स एव सममनिती तिसमानो वायुरिति संज्ञां लभते। एतस्यैव वायोर्विकृतौ परिपाकसहायकानामङ्गानां यथावश्यकक्रियाभावादनावश्यका-धिकक्रियोत्पन्नाच्च गुल्ममन्दाग्न्यतीसारादयो रोगा जायन्ते।

है। इससे समझा जाता है कि—आमाशय, ग्रहणी यकृत् अग्न्याशय क्षुद्रान्त्र प्रभृति परिपाक क्रिया के सहायक अङ्गों का संकोच विकाशादि जिन पेशियों की क्रिया से होते हैं उन पेशियों का सञ्चालन करना जिन वातसूत्रों का कार्य है उन वातसूत्रों में रहकर जो वायु अङ्गों का यथोचित संकोच विकाशादि द्वारा भुक्त द्रव्यों से रस और मल को पृथक् २ कर देता है वह ही समानवायु है। समानता से प्राण धारण करके समान नाम को प्राप्त करता है। इस वायु की विकृति से परिपाक के सहायक अङ्गों की क्रिया ठीक २ तरह से नहीं होती, उन अङ्गों की आवश्यक क्रिया न होने से गुल्म, मन्दाग्नि, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

व्यानो वायुः—

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ।
स्वेदासृक्स्रवणो वापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहजान् ॥

एतेन विज्ञायते—सर्वशरीरप्रसृतानां सिराधमनी केशिकास्वेदग्रन्थ्यादिसञ्चालकवातसूत्राणामुद्योतको वायुरेव विशेषेण समन्तादनितीति व्यानसंज्ञां लभते । अत्रैतदव-

---

व्यानवायु—सारे शरीर में भ्रमण करने वाला जो वायु "रससंवहन" कार्य को करता है स्वेद का और रक्त का स्राव कराता है तथा पंचविध चेष्टायें कराता है उसको व्यान वायु कहते हैं । यह वायु कुपित होकर प्रायः सर्वाङ्ग व्यापी रोग उत्पन्न करता है ।

इससे मालूम पड़ता है कि—सिरा धमनी केशिका स्वेदग्रन्थि आदि को सञ्चालित करने वाले सारे शरीरमें फैले हुये वातसूत्रोंका सञ्चालन तथा सारे शरीर में फैले हुये सांवेदनिक वातसूत्रों का उद्योतक वायु ही व्यानवायु है । यह वायु विशेषरूपसे चारों तरफ फैलकर शरीर को जीवित रखता है इसलिये व्यान संज्ञा को प्राप्त करता है ।

धेयं यदाधुनिकै रक्तपरिभ्रमणसंज्ञया या क्रिया जीवनधारिणी वर्णिता साऽज्ञानादायुर्वेदे न वर्णितेति भृशमाक्षिप्यते। किन्तु सैव प्राणधारिणी क्रियायुर्वेदे रससंवाहन शब्देनाभिहिता। यदुक्तं भगवता सुश्रुतेन—स (रसः) हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनी रनुप्रविश्य कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति जीवयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणेति।

यहां इतना ख्याल करना चाहिये कि—आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र में रक्तपरिभ्रमण नाम से प्राण की रक्षा करने वाली जिस क्रिया को वर्णन है अज्ञानतावशतः आयुर्वेद में उसका वर्णन नहीं किया गया ऐसा भारी आक्षेप किया जाता है किन्तु वह ही क्रिया आयुर्वेद में रस संवाहन नाम से वर्णित हुई है। जैसे भगवान् सुश्रुतजी ने लिखा है कि वह रस हृदय से चौबीस धमनियों में प्रविष्ट होकर सारे शरीर को सर्वदा तृप्त करता है बढ़ाता है, धारण करता है यापन करता है अर्थात् प्रश्वासादि द्वारा अनावश्यक और घातक द्रव्यों को बाहर फेंकता हुआ शरीर की रक्षा करता है और शरीरको जीवित रखता है। अचेतन रस कार्य को क्यों करता है इसका उत्तर है कि अदृष्ट हेतुक कर्म ही रस को इतने कार्य कराता है।

श्रीमता चरकेणाप्युक्तम्–"व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपाचित कर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा"। इति ननु रक्तपरिभ्रमणं प्रत्यक्षसिद्धं तस्य रससंवहनसंज्ञा प्रत्यक्षविरुद्धा कथं संगच्छत इति चेदुच्यते भुक्तद्रव्यात् पोषणकर्मा रस एव शरीरे संशोष्यते नतु रक्तं तस्माद्रक्तस्यैव शरीरपोषकत्वं कल्पयितुं न शक्यते। यतस्तस्यापि पोषको रस एव। तस्माद्रसस्यैव सर्वशरीरपोषकत्वं युक्तिसिद्धमिति।

श्रीमान् चरक जी ने भी लिखा है कि—विक्षेप कर्म करने में अभ्यस्त व्यान वायु से रस धातु युगपत् सारे शरीर में सर्वदा प्रचुर परिमाण में विक्षिप्त होता है। यहां शंका होती है कि रक्त परिभ्रमण तो प्रत्यक्ष सिद्ध है उसके लिए प्रत्यक्षविरुद्ध रस संवहन संज्ञा किस प्रकार से संगत हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि भुक्त द्रव्य से शरीर को पोषण करने वाले रस का ही शोषण होता है रक्त का शोषण नहीं होता है (यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है) अतएव "रक्त ही शरीर का पोषक है" ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि रक्त का पोषक भी रस है अतः रस को ही सर्व शरीर का पोषक कहना युक्ति सिद्ध होता है।

स रसो भुक्तद्रव्यात् संशोषितो रक्तेन सह मिलितः सन् परिभ्रमति शरीरं, तत्र परिभ्रमत्सु तरलेषु रक्तवर्णं दृष्ट्वा स्थूलदर्शिनो रक्तपरिभ्रमणं कथयन्ति । सूक्ष्म दर्शिभिस्तु सर्वेषां पोषकस्य रसस्यैव परिभ्रमणं वर्णितमिति । एषा खलु क्रिया हृदयसिरादिसंकोचादिक्रिया द्वारा सम्पद्यते, तेषां च सर्वेषामेव संकोचादयो वातसूत्रैरिति वातसूत्रस्थो वायुरेव तत्र कारणमिति सूक्ष्मो विवेकः । स्वेदरक्तादीनां स्रवणं गतिरपि व्यानेनैव वायुना तत्तद्वातसूत्रचालकेन

यह रस भुक्त द्रव्य से शोषित होकर रक्त के साथ मिश्रित होकर शरीर में भ्रमण करता है। परिभ्रमण करने वाले तरलों में लाल रंग देखकर स्थूलदर्शी उसको रक्तपरिभ्रमण कहते हैं किन्तु सूक्ष्मदर्शी आचार्यों ने सारे शरीर को पोषण करने वाला रस का भ्रमण करके वर्णन किया है।

यह क्रिया सिरा आदि के संकोच विकाश आदि क्रिया द्वारा सम्पन्न होती है। उन सब अंगों को संकोचादि भी वात सूत्रों से ही होते हैं अतएव वात सूत्रों में रहने वाला वायु ही उसमें कारण है ऐसा सूक्ष्म अभिप्राय समझना चाहिए। स्वेद रक्त आदि का निःसरण भी तत तत् अङ्गों के सञ्चालक वातसूत्रों से ही होता है

संजायत इति। तथोत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणागमनाभिधेयाः पञ्चविधाः क्रिया अपि व्यानेनैव वायुना संजायन्ते। अत्रापिशब्दात् पञ्चेन्द्रियज्ञानान्यपि ज्ञेयानि । हस्तपदादिस्थपेशीसञ्चालकवातसूत्राणां संचालकोऽप्ययमेव वायुरिति। तत एव व्यानवायुप्रकोपात् प्रायशः सार्वाङ्गिका रोगाः संजायन्ते, कदाचिदङ्गविशेषस्य वातसूत्रविकृतिजन्य एकांगिको रोगोऽपि खञ्जतादिर्भवतीति प्रायशः पदोपन्यासः ।

अपानो वायुः—

तथा उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन नामक पांच प्रकार क्रिया और पञ्चविधज्ञानेन्द्रियों से पांच प्रकार का (श्रवण स्पर्शन दर्शनादि) ज्ञान भी व्यान वायु से सम्पन्न होते हैं । हस्तपादादि के सञ्चालक पेशियों को चलाने वाले वात सूत्रों का सञ्चालक भी व्यान वायु ही है इसलिए व्यान वायु के प्रकोप से प्रायशः सार्वांगिक रोग होते हैं। कभी कभी एकाङ्गस्थित वात सूत्रों की विकृति से खञ्जतादि एकांगसंश्रित रोग भी उत्पन्न हो सकता है इसलिये यहां प्रायश पदका प्रयोग हुआ।

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम् ।
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः ।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान् ॥

एतेनावगम्यते—बृहदन्त्रमलाशयवस्तिशुक्राशयगर्भाशय गात्रस्थानां तत्तदाशयस्थद्रव्याधोनयनसम्पादनक्रियाजनकानां वातसूत्राणां सञ्चालको वायुरेवापनयनादपानो वायुरभिधीयते । अस्यप्रकोपाद्वस्तिगुदाश्रिता रोगा भवन्तीति ।

अपानवायु—पक्वाशय में रहने वाला जो वायु यथा समय मल मूत्र शुक्र आर्तवगर्भ आदि को नीचे की तरफ खींच लेता है उस वायु को अपान वायु कहते हैं। यह वायु कुपित हो तो वस्ति गुदा आदि में होने वाले भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है। यहां पक्वाशय शब्द से पक्वाशय वस्ति गुदा गर्भाशय शुक्राशय आदि अङ्गों को समझना चाहिए। इससे समझा जाता है कि वृहदन्त्र, मलाशय, वस्ति, शुक्राशय, गर्भाशय आदि के गात्र में रहकर उन आशयों में रहने वाले द्रव्यों को नीचे ले जाने वाली क्रियाओं को उत्पन्न करने वाले वातसूत्रों का सञ्चालक वायु ही अपान वायु है। अपनयन करने वाला (नीचे ले जाने वाला) होने से इसका नाम अपान हुआ है। इस वायु के प्रकोप से

पित्तस्वरूपमुक्तं भगवता चरकाचार्येण—

"औष्ण्यं तैक्ष्ण्यमनतिस्नेहो वर्णश्चाशुक्लो गन्धश्च विस्रो रसौ कटुकाम्लौ सरश्च पित्तस्यात्मरूपाणीति"। तप सन्ताप इत्यस्मात् पित्तमिति रूपं तेन तापजनकमुष्णता सम्पादकं पित्तमित्यर्थोलभ्यते। तस्मादवगम्यते सामान्यतस्तापजनकं विशेषतस्तीक्ष्णतादिजनकं पाञ्चभौतिकमपि वह्निजलप्रधानं कटुकाम्लरसयुक्तं विस्रगन्धयुक्तं शुक्लेतरवर्णयुक्तं (लक्षणैरेभिः पृथिव्या अपि प्रधान्यमत्राव

वस्ति गुदा आदि में उत्पन्न होने वाले रोग होते हैं।

पित्त का स्वरूप—भगवान् चरक जी ने लिखा है कि उष्णता तीक्ष्णता, अनतिस्नेह, शुक्ल भिन्न वर्ण, विस्र गन्ध, कटु और अम्ल रस, और सर यह पित के स्वरूप बोधक लक्षण हैं।

तप संतापे—सन्तापार्थक "तप" धातु से पित्त शब्द बना है। अतएव ताप जनक अर्थात् उष्णता सम्पादक को पित्त करके समझना चाहिये। इससे मालूम पड़ता है कि सामान्य रूप से ताप का उत्पादक और विशेष रूप से तीक्ष्णतादि कारक पांचभौतिक होने पर भी जिसमें अग्नि और जल प्रधान हैं कटु और अम्ल रसयुक्त, विस्रगन्धयुक्त, शुक्लभिन्नवर्ण युक्त (इन लक्षणों से

गम्यते) यद् द्रव द्रव्यं सर्वशरीरे वर्त्तमानं तदेव पित्तमिति। रक्तस्य मलमिदं रक्तेन मिलितं तिष्ठतीति यावन्न स्वयमेव पृथग् भवति तावदस्माभिर्द्रष्टुं न शक्यते किन्तु शास्त्रकृद्भि-र्नियतरसरूपगन्धस्पर्शोल्लेखादनुमीयते तथालक्षणलक्षि-तस्य पित्तस्य पृथक्करणे शक्तिस्तेषामासीदिति। पित्तस्य स्थान कार्यलक्षणादीनां वर्णनमायुर्वेदोक्तं दृष्ट्वा पित्तकोष निर्गतं पित्तमेवायुर्वेदोक्तं पित्तमिति कश्चिदपि विवेकी न कथयितुं शक्नोति। एतत् पित्तमपि नामस्थानक्रियामयैः पाचक-

---

इसमें पृथिवी का भी प्राधान्य सिद्ध होता है) जो द्रव (तरल) पदार्थ सारे शरीर में वर्तमान है वह ही पित्त है। यह पित्त रक्त का मल है अतः रक्त में मिलित होकर ही रहता है। यह जब तक स्वयं रक्त से पृथक नहीं होता है तब तक हम इसको नहीं देख सकते किन्तु शास्त्रकारों ने इसके रस, रूप, गन्ध और स्पर्श को जिस प्रकार निश्चय करके लिखा है इससे अनुमान किया जाता है कि इस प्रकार लक्षण विशिष्ट पित्त को पृथक करने की शक्ति शास्त्रकारों की थी। आयुर्वेद में पित्त का स्थान कार्य लक्षणादि के जैसे वर्णन हैं उनको देखकर पित्त कोष से निर्गत पित्त (Bile) को कोई भी विवेकीपुरुष आयुर्वेदोक्त पित्त नहीं समझ सकता है।

रञ्जकसाधकालोचकभ्राजकभेदेन पञ्चधाभिद्यते ।

पाचकं पित्तम्--तत्र पाचकपित्तं वर्णितं सुश्रुतेन यथा—
"तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोष-रस-मूत्र-पुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानामनुग्रहं करोति। तस्मिन् पाचकोऽग्निरिति संज्ञा ।"

एतेनावगम्यते--भुक्तद्रव्याणां परिपाकाय रस-

यह पित्त भी नाम, स्थान, कार्य और रोगकारक शक्तिके भेद से पांच प्रकार का है । उनके नाम—पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक हैं ।

पाचक—भगवान् सुश्रुत जी ने पाचक पित्त का वर्णन किया है कि अदृष्ट हेतुक विशेष से, अर्थात् प्राणी के अदृष्ट से नियन्त्रित होकर पक्वामाशयमध्यस्थ वह पित्त चतुर्विध अन्न पानीय को पचाता है तथा दोष, रस, मूत्र, पुरीष, इनको पृथक् करता है अर्थात अन्नादि को उतने भाग में बांटता है । वहां रह कर ही अपनी शक्ति से अवशिष्ट पित्त स्थानों का अनुग्रह करता है अर्थात् उनको सहायता पहुँचाता है इस पित्त को पाचक अग्नि नाम से कहा जाता है ।

मल-मूत्र-पुरीषाणां पृथक्करणाय च ये ये पाचकरसाः कार्यं कुर्वन्ति तेषां स्थूलतः पित्तसंज्ञा भवितुमर्हति, किन्तु तेऽपि न पित्तं केवलं तदन्तर्गत टाईलीन् पेपसीन् आदि विशिष्टद्रव्यविश्लेषकेषुद्रव्येषु पाचकपित्ताधिक्यं युक्तिसिद्धं भवितुमर्हति। यद्यपि टाईलीन् संज्ञकस्य स्थानं लालास्थानान्न विशिष्यते लालास्थानं च मुखमेव नामाशयस्तथापि 'ष्ठा' गतिनिवृत्तौ इत्यस्माद्धातोर्निस्पन्नस्य स्थानशब्दस्य

इससे मालूम पड़ता है भुक्त द्रव्यों के परिपाक के लिये अर्थात् रस, मल, मूत्र, दोष आदि रूप में परिणत करने के लिये जो जो पाचक रस कार्य करते हैं स्थूल रूप से उनकी पित्तसंज्ञा हो सकती हैं किन्तु वास्तव में वह भी पित्त नहीं है केवल विशिष्ट द्रव्यों के पाचक और उनके अन्दर रहने वाले टाईलीन्, पेपसीन् आदि द्रव्यों में पाचक पित्तका आधिक्य युक्तिसिद्ध हो सकता है। यद्यपि टाईलीन् के स्थान लालारस के स्थान से भिन्न नहीं है और लालारसका स्थान केवल मुख ही है आमाशय नहीं है इसके अनुसार पाचक पित्त का स्थान केवल आमाशय कहना अनुचित है तथापि स्थान शब्द जिस "ष्ठा" धातु से बना है उसका अर्थ है "गतिनिवृत्ति" अतएव जिसकी गतिकी निवृत्ति जहां होती है वह भी

यत्र गतिनिवृत्तिः सोऽप्यर्थो भवितुमर्हति, लालारसस्य मुखजातत्वेऽपि तस्य गतिनिवृत्तिरामाशय एव भवति, तथा लालारसस्थेन टाईलीन् संज्ञकेन श्वेतसारस्य शर्करारूपेण परिणमनमप्यामाशय एवाधिक्येन भवति, तथान्यैश्च नानाविधैः पाचकरसैरामाशयग्रहणीक्षुद्रान्त्रादिस्थितैस्तत्र तत्र भुक्तद्रव्याणां परिपाकः सम्पद्यत इत्यतः पाचकस्य स्थानं संक्षेपेणामपक्वाशय ऽभिहितस्तत्रैव प्रायेण सम्पद्यते भुक्तपाकक्रियेति प्रत्यक्षमेव परीक्षकाणाम्। यत्रामाशयमात्रं पाचकस्थानमभिहितं तत्रामस्यान्नस्याशयो बोध्यो नतु पारिभा-

---

उसका स्थान है स्थान शब्दका ऐसा अर्थ भी होसकता है। लालारस आमाशय में उत्पन्न नहीं होता है किन्तु उसकी गति की निवृत्ति आमाशय में जाकर ही होती है। लालारस स्थित टाईलीन् द्वारा श्वेतसार के शर्करा में परिवर्तन भी अधिकतर आमाशय में ही होता है, तथा आमाशय ग्रहणी क्षुद्रान्त्र आदि में रहने वाले नानाविध पाचक रस से तत्तत् स्थान में भुक्त द्रव्य का परिपाक होता है अतएव पाचक पित्त का स्थान संक्षेप से आमाशय और पक्काशय लिखा है वहां ही पाकक्रिया प्रायशः सम्पन्न होती है यह तो परीक्षकों का प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। यह पित्त भुक्तद्रव्यों से पित्त

पिक्वामाशय इति। एतदेव पित्तं भुक्तद्रव्यात् पित्तपोषक द्रव्यमादाय तेन सर्वशरीरस्थं पित्तं पोषयति। अस्य विकृतावतीसारग्रहण्यादयो रोगाः सञ्जायन्ते।

रंजकपित्तम्—यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा स रसस्य रागकृदुक्तः।

एतेन विज्ञायते यद्रसस्य रक्ततासम्पादकत्वस्त्वेव रंजक पित्तमुच्यते रंजनकारित्वात्। यकृत्प्लीह्नो रक्तकणस्यो-

---

के पोषक अंश को लेकर उस से सारे शरीर का पोषण करता है। इस पाचक पित्त को विकृति से अतीसार ग्रहणी आदि रोग उत्पन्न होते हैं। जहां केवल आमाशय को पाचक पित्त का स्थान बताया है वहां आमाशय शब्द से केवल पारिभाषिक आमाशय नहीं समझ कर आम यानी अपक्क अन्न के आशय को समझना चाहिये।

रंजक पित्त—यकृत और प्लीहा में रह कर जो पित्त रसकणों को रक्त कणों में परिवर्तित करता है उसको रंजक पित्त कहते हैं। इससे समझा जाता है कि जो द्रव्य रस के श्वेत कणों में अपना रंग चढ़ाकर उनको लाल कर देता है वह ही रंजक पित्त है। रंजित करने वाले को रंजक कहा जाता है। आयुर्वेद में लिखा

त्पत्तिस्तत्रत्ये रक्ते रक्तकणाधिक्यदर्शनादेव सिध्यति । अस्य विकृतौ रक्तहीनतादिरोगा जायन्ते ।

साधकं पित्तम्—यत्पित्तं हृदयसंस्थितं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः । एतेन विज्ञायते यत्सात्त्विकं पित्तमन्तरात्मनः श्रेष्ठ तमायतने हृदयेऽवस्थितं सत् स्वकीयेन सात्त्विकेन गुणेन प्रार्थितं मनोरथं साधयति सुखमुत्पादयतीत्यर्थः सत्त्वगुणप्रधानं

है कि यकृत् प्लीहा में रस जाकर रक्त बनता है । यह तो प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं है किन्तु शरीर के और किसी स्थान के रक्त में रक्त कण जिस अनुपात में मिलते हैं यकृत और प्लीहा के रक्त में उससे अधिक मिलते हैं । इससे अनुमान किया जाता है कि यकृत् और प्लीहा में रक्त कणों की उत्पत्ति होती है । इसकी विकृति से रक्ताल्पता, रक्ताधिक्य आदि रोग उत्पन्न होते हैं ।

साधक पित्त—जो पित्त हृदय में अवस्थित है इसको साधक अग्नि (पित्त) कहते हैं क्योंकि वह अभिप्रार्थित मनोरथ को साधन करने वाला है । इससे समझा जाता है कि जो सात्त्विक (सत्त्वगुण प्रधान) पित्त अन्तरात्मा के श्रेष्ठतम आयतन हृदय में रह कर स्वकीय सात्त्विक गुण से वांछित मनोरथ को सिद्ध

तत्पित्तं सुखसाधकत्वात् साधकसंज्ञां लभते।

एतेन—विभिन्नग्रन्थिनिःस्रावो यथा विभिन्नभावोत्पादकस्तथा हृदन्तःसाधकपित्तनिःस्रावः सुखाधिक्यं जनयतीत्यनुमातुं शक्यते। अस्य विकृतौ दुःखशीलतादिर्जायते।

आलोचकं पित्तम्—यद्दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा। स रूपग्रहणेऽधिकृतः। एतेनावबुध्यते चक्षुष उपादानभूतः स्थूलोऽग्निरेवालोचकपित्तसंज्ञां लभते रूपालोचनशीलत्वात्। एतेन रूपग्रहणं यथा सम्भवति

करता है अर्थात् सुख उत्पादन करता है सत्त्वगुण प्रधान वह पित्त सुख के साधक होने से साधक पित्त कहलाता है। इससे यह भी अनुमान कर सकते हैं कि जैसे भिन्न भिन्न ग्रन्थि के रस भिन्न भिन्न भावों के उद्बोधक हैं ऐसे ही हृदय के अन्दर साधक पित्त का स्राव होने से अधिक सुख की उत्पत्ति होती है। इसकी विकृति से दुःख शीलतादि उत्पन्न होते हैं।

आलोचक पित्त—जो पित्त नेत्र में रहकर रूप ग्रहण कराता है रूप के आलोचन करने के कारण उसको आलोचक अग्नि (पित्त) कहते हैं। इससे समझा जाता है कि चक्षु का उपादान स्वरूप स्थूल अग्नि ही आलोचक पित्त संज्ञा को प्राप्त

तत्सर्वं पञ्चभूतविज्ञाने प्रपञ्चितम्। अस्यविकृतौ दृष्टिरोगा जायन्ते।

भ्राजकं पित्तम्—यत्तु त्वचि पित्तं तस्य भ्राजकोऽग्नि-रिति संज्ञा। सोऽभ्यंगपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रिया द्रव्याणां पक्ता वर्णानाञ्च प्रकाशक इति। तेन विज्ञायते-अभ्यङ्गपरिषेकादिक्रियायां प्रयुक्तानां द्रव्याणां पाकादु-पयोगिद्रव्याणां विश्लेषणोपयोगितासाधकं तथा त्वचि

करता है क्योंकि रूप का आलोचन कराना उसका स्वभाव है। इस पित्त से रूप का ग्रहण किस प्रकार से होता है इसका विस्तृत वर्णन पंचभूत विज्ञान में किया गया है। इसकी विकृति से दृष्टि रोग उत्पन्न होते हैं।

भ्राजक पित्त—जो पित्त त्वचा में रहने वाला है उसको भ्राजक पित्त कहते हैं। यह पित्त अभ्यंग (मालिश), परिषेक, अवगाहन, आलेपन आदि क्रियाओं में जिन द्रव्यों का उपयोग होता है उनको पाक करने वाला और वर्ण का प्रकाशक है इससे समझा जाता है कि अभ्यंग, आलेपन आदि क्रिया में त्वचा के ऊपर जिन द्रव्यों को लगाया जाता है उनमें से शरीरोपयोगी द्रव्यों के विश्लेषण की उपयोगिता को उत्पन्न करना भ्राजक पित्त

पतितस्यालोकस्य प्रत्यावर्त्तनसाधकमाग्नेयद्रव्यमेव भ्राजकत्वाद् भ्राजकसंज्ञां लभत इति। अस्य विकृतौ दाहादिरोगा जायन्ते।

श्लेष्मस्वरूपम्—श्लिष आलिंगने इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नस्य श्लेष्मन्शब्दस्य संयोजकार्थोऽवगम्यते। भगवता चरकेण श्वैत्यशैत्यगौरवस्नेहमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्नानि श्लेष्मण आत्मरूपाणीत्यभिहितम्। सौम्यः

का कार्य है। त्वचा के ऊपर बाहर से जो आलोक पड़ता है उसको प्रत्यावृत्त कर देना भ्राजक पित्त का दूसरा कार्य है। त्वचा में तैजस पित्त जितना अधिक रहेगा उतना ही प्रकाश का प्रत्यावर्तन अधिक होगा जिससे अधिक दीप्ति दिखाई देगी। भ्राज् धातु का अर्थ भी दीप्ति है वर्ण को उज्ज्वल करके प्रकाशित करने से इसका नाम भ्राजक हुआ है। इसकी विकृति से दाह रोगादि उत्पन्न होते हैं।

श्लेष्मा का स्वरूप—आलिंगनार्थक श्लिष धातु से श्लेष्मा शब्द बना है जिससे श्लेष्मा शब्द का "संयोजक" अर्थ समझा जाता है। भगवान् चरक जी ने श्वैत्य (शोथ), शैत्य, गौरव, स्नेह, माधुर्य, स्थिरता, पिच्छिलता, मृत्स्नता इतने को श्लेष्मा के

श्लेष्मेति निर्देशादुपादानमपि तस्य विज्ञायते—साधारणतः शरीरस्थानां सर्वेषां संयोगसाधको विशेषतः श्वैत्यादिकारकः पांचभौतिकोऽपि भूमिजलप्रधानः स्निग्धश्वेतो गुरुरुष्णतावारको देहधारकः श्लेष्मेति कथ्यते। रस मलस्यास्यापि रसेन सह मिलित्वाऽवस्थानाद्रसस्य च रक्तेन सहावस्थानादयमपि नास्माभिः पृथक् कृत्वाद्रष्टुं शक्यते। किंतु स्वयमेव पृथग् भूत्वा श्लैष्मिककलायामवस्थितो

स्वरूपबोधक लक्षण करके वर्णन किया है। श्लेष्मा सौम्य (पृथिवी, जल प्रधान) है इस से इसके उपादान को भी वर्णन किया है। इससे समझा जाता है कि साधारण रूप से शरीरस्थ सब द्रव्यों के (सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा स्थूल से स्थूल) संयोजकको और विशेष करके श्वैत्य, शैत्य,गौरव, स्नेह, माधुर्य आदि का कारक पांचभौतिक होते हुये भी जिसमें पृथिवी और जल अधिक है, स्निग्ध, श्वेतवर्ण, गुरु, उष्णतानिवारक देह धारक पदार्थ श्लेष्मा कहलाता है। यह श्लेष्मा रस धातु का मल है अतएव रस में मिलित रहता है, वह रस भी रक्त में मिला रहता है जिस से इस कफ को भी हम पृथक करके नहीं देख सकते हैं, किन्तु जब यह स्वयं पृथक होकर श्लैष्मिक कला में अवस्थित होता

मलभूतो वा विनिर्गत एवास्माभिर्द्रष्टुं शक्यते । अस्यापि शास्त्रेषु गन्धवर्णरसस्पर्शानां निश्चितरूपेण वर्णनदर्शनादनुमीयते यत् शास्त्रकाराणां कफपृथक्करणे शक्तिरासीदिति । कफस्यापि स्थानकर्मादिवर्णनमायुर्वेदे दृष्ट्वा मुखादि निर्गत एव कफे श्लेष्मभ्रान्तिर्न युज्यते । अयमपि कफो-वातादिवन्नामस्थानक्रियामयैः क्लेदकावलम्बकबोधकतर्पकश्लेषकभेदात् पञ्चधा भिद्यते ।

यदुक्तं सुश्रुताचार्येण--(क्लेदकः श्लेष्मा) स च

है अथवा मलभूत बन कर निकलता है तब हम भी इसको देख सकते हैं। शास्त्र में कफ का भी विशिष्ट रूप रस गन्ध और स्पर्श का निश्चित रूप से वर्णन मिलता है इससे इसको पृथक् करके देखने की शक्ति प्राचीनों की थी इस प्रकार अनुमान कर सकते हैं। कफ के स्थान और कार्यादि का वर्णन आयुर्वेद में जैसा है उसको देखकर केवल मुखादि निर्गत श्लेष्मा को श्लेष्मा समझना अत्यन्त भ्रम है। वात और पित्त जैसा यह कफ भी नाम, स्थान, क्रिया और रोग के भेद से क्लेदक, अवलम्बक, बोधक, तर्पक, और श्लेषक नाम से पांच प्रकार में विभक्त होता है श्रीमान सुश्रुतजी ने लिखा है कि—(क्लेदक श्लेष्मा)—वह आहार

तत्रौदकैगुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति।

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतलः॥

स तत्रस्थ एव चात्मशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणानुग्रहं करोति। एतेन विज्ञायते यदामाशयस्थितो यः श्लेष्माऽन्नद्रव्यस्य काठिन्यमपनयति, क्लिन्नत्वं च जनयति तथा भुक्तद्रव्यान्मधुरशीतलांशमादाय

आमाशय में श्लेष्मा (क्लेदक) के जलीय गुण से प्रक्लिन्न होकर भिन्नसंघात (जिसकी कठिनता नष्ट हो गई है) और सुखजर (आसानी से जीर्ण होने के योग्य) बन जाता है। आमाशय में अन्नों की मधुरता, पिच्छिलता और प्रक्लिन्नता से (अन्न में ये सब लक्षण क्लेदक श्लेष्म के सम्पर्क से होते हैं) वहां मधुर, शीतल श्लेष्मा उत्पन्न होता है। वह क्लेदक श्लेष्मा आमाशय में ही रह कर और सब श्लेष्म स्थान को तथा शरीर को अपने जलीय गुणों से अनुग्रह (तृप्ति) करता है। इससे समझा जाता है कि जो श्लेष्मा आमाशय में रहकर भुक्त द्रव्यों की कठिनता को दूर करता है, उनको क्लेद युक्त करता है तथा

रसेन सह सर्वं शरीरं परिभ्रमन् सर्वत्र कफोपादानं समर्पयति, स भुक्तद्रव्यस्य क्लेदकत्वात् क्लेदकसंज्ञां लभत इति। अयं विकृतो वमनादीन् करोति।

अवलम्बकः श्लेष्मा—"उरःस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति।" एतेनावगम्यते पृष्ठवंशान्तर्गतमेरुमज्जास्निग्धताकारकस्तथा रसरक्ताभ्यां सह सर्वशरीरं परिभ्रमन् क्रमेण हृदयफुफ्फुसादिकोष्ठान्तर्गतश्लैष्मिककलावस्थितस्तत्तदंगानां पालकः श्लेष्मा

भुक्त द्रव्य से मधुर और शीतल अंश को लेकर सारे शरीर में भ्रमण करता हुआ सर्वत्र कफके उपादानको पहुँचाता है। वह कफ भुक्त द्रव्यों का क्लेदक होने से क्लेदक संज्ञा को प्राप्त करता है। यह क्लेदक श्लेष्मा विकृत होकर वमनादि रोग उत्पन्न करता है।
अवलम्बक श्लेष्मा—उरःस्थ (वक्षःस्थित) श्लेष्मा त्रिक (पृष्ठवंश) के सन्धारण तथा अन्न रस से मिलकर अपने वीर्य से हृदय का अवलम्बन करता है। इससे समझा जाता है कि रीढ़ की हड्डी के अन्दर जो मेरुमज्जा (सुषुम्ना) है उसको स्निग्धता देकर उसकी रक्षा करने वाला तथा रस और रक्त के साथ मिलकर सारे शरीर में परिभ्रमण करता हुआ क्रमशः हृदय फुप्फुस आदि

हृदयावलम्बकत्वादवलम्बकसंज्ञां लभत इति। अयं विकृतो हृदवलेपफुफ्फुसप्रदाहमेरूमज्जप्रदाहादिरोगान् जनयति। एकस्मिन् हृदि प्राणवायुः साधकं पित्तमवलम्बकः श्लेष्मा च कथं तिष्ठतीति नाशङ्कनीयम्, यतो वातादयस्त्रय एव दोषाः सर्वशरीरचराः सूक्ष्मातिसूक्ष्मेऽङ्गे कोषादौ त्रयाणामवस्थितिः प्राक् समर्थिता। तस्मादुक्तमाचार्यैः— 'तेऽव्यापिनोऽपी'त्यादि।

अंगस्थ कोष्ठों के अभ्यन्तरस्थित श्लैष्मिक कला में रह कर तत्तत् अंगों को पालन करने वाला श्लेष्मा हृदयादि के अवलम्बक होने से अवलम्बक संज्ञा को प्राप्त करता है। इस श्लेष्मा की विकृति से हृदय का अवलेप (श्लैष्मिक कला में श्लेष्माधिक्य) फुफ्फुस का प्रदाह, मेरुमज्जा का प्रदाह इत्यादि भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं।

एक ही हृदय में प्राणवायु साधक पित्त और अवलम्बक श्लेष्मा कैसे रहेगा इस प्रकार शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि वातादि तीनों दोष सर्व शरीरचर हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म कोषादि अवयव में वातादि तीनों दोषों की अवस्थिति को पहिले ही सिद्ध किया है। शास्त्र में भी लिखा है कि तीनों दोष शरीर में व्यापक हैं।

बोधकश्लेष्मा—जिह्वामूलस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्तते। एतेनावगम्यते जिह्वायां तन्मूले चावस्थितो यो जिह्वां सततं क्लिन्नां करोति जिह्वासंयुक्तद्रव्यान्तर्गतरसाधिकरणद्रव्याणि द्रवतां नीत्वा रसग्रहणसाहायकमाचरति स रसबोधनाद्बोधकसंज्ञां लभत इति। अस्य विकृतौ प्रसेकमुखमाधुर्यमुखशोषादिर्जायते।

तर्पकश्लेष्मा—शिरःस्थः स्नेहसन्तर्पणाधिकृतत्वा-

बोधक श्लेष्मा—यह श्लेष्मा जिह्वामूल में रहता है। इससे जिह्वेन्द्रिय सौम्य (आर्द्र) रहती है जिससे रस ज्ञान ठीक ठीक तरह से होता रहता है। इससे समझा जाता है कि जिह्वा और जिह्वामूल में रह कर जो श्लेष्मा सर्वदा जिह्वा को क्लिन्न (गीला) रखता है तथा जिह्वा के साथ संयोग-प्राप्त द्रव्य के अन्दर रहने वाले रस के आश्रयरूप द्रव्यों में तरलता उत्पन्न करके रस-ग्रहण में सहायता करता है वह रस का बोधक होने से बोधक संज्ञा को प्राप्त करता है। इसकी विकृति से अधिक थूक आना मुख मीठा रहना, मुखशोष आदि रोग होते हैं।

तर्पक श्लेष्मा—शिर में रहने वाला श्लेष्मा अपने वीर्य से इन्द्रियों में (खास करके इन्द्रियों के मल ज्ञानकेन्द्रों में) स्नेहन

दिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति।" एतेनात्रगम्यते यत् शिरःस्थितो यः स्निग्धशीतलः पदार्थ इन्द्रियाणां ज्ञान केन्द्राणां च स्नेहसंतर्पणादिकर्मनिर्वाहकः स इन्द्रिय तर्पकत्वात् तर्पकसंज्ञां लभत इति। अस्याधिक्ये प्रतिश्यायादि-रोगा जायन्ते।

श्लेषकश्लेष्मा—"सन्धिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धि-संश्लेषणात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति।" एतेन विज्ञायते यद-यमेव श्लेष्मा स्थूलसूक्ष्मेषु सर्वविधेषु सन्धिषु स्थितो नि-

---

सन्तर्पण कार्य करता रहता है जिससे इन्द्रियां अपने २ कार्य को ठीक ठीक तरह से कर सकती हैं। इन्द्रियसन्तर्पणकारी होने से यह श्लेष्मा तर्पक संज्ञा को प्राप्त करता है। इससे समझा जाता है कि शिर में रहने वाला जो स्निग्ध शीतल पदार्थ इन्द्रियों और ज्ञान केन्द्रों के स्नेहन तर्पण आदि कार्य को करने वाला है वह इन्द्रियादि का तर्पक होने से तर्पक श्लेष्मा कहलाता है। इसकी वृद्धि से प्रतिश्याय आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

श्लेषक श्लेष्मा—सन्धिस्थ श्लेष्मा सब सन्धियों का संश्लेषण करके सब सन्धियों पर अनुग्रह करता है। इससे समझा जाता है कि यह ही श्लेष्मा स्थूल से स्थूल तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म सन्धियों में

र्यासवत्तेषां संश्लेषणं करोति। तत्रापि कोषादिसूक्ष्मद्रव्याणां सन्धिषु श्लेष्माऽयं न दृश्यते तथापि तेषामपि संश्लेषणदर्शनादयमवगन्तुं शक्यते। स्थूलेष्वस्थिसंयोगेषु श्लैष्मिककलावस्थितोऽयं स्थूल एव दृश्यते। यद्यपि नायमेव संयोगसाधकस्तथापि सन्धीनामनुग्राहकोऽयमिति। तथा संयोगकारकाणां संयोगोऽपि श्लेष्मणैव जायते। अस्य विकृतौ शैथिल्यादय उत्पद्यन्ते।

एवं वातादीनां पृथक् पृथक् पञ्चविधत्वं वर्णितम्।

गोंद जैसा रहकर उनको जोड़ता है। यद्यपि कोषादि सूक्ष्म द्रव्यों की सन्धि में यह श्लेमा देखने में नहीं आता तथापि उनके संयोग को देखकर संयोग करने वाले श्लेष्मा को भी जान सकते हैं। स्थूल अस्थियों के संयोग में जो श्लैष्मिक कला है उसमें रहने वाला श्लेष्मा प्रत्यक्ष है। यद्यपि श्लैष्मिक कलामें रहनेवाला श्लेष्मा संयोगकारक नहीं है किन्तु सन्धियों की रगड़ से बचाने वाला है अतः उनका अनुग्राहक है। स्थूलसन्धिके संयोजक स्नायु आदि का संयोग भी श्लेष्मा से ही होता है। इस श्लेष्माकी विकृति से सन्धिशैथिल्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार वातादि के पृथक पृथक पांच प्रकार

तत्र स्थानकर्मामयभेदाद् भिन्नसंज्ञानामपि वातादीनां वस्तु-भेदः सर्वथा नास्ति किन्तु प्राणेनोदानकार्यमुदानेन वा प्राणकार्यं कदापि न कर्तुं शक्यते तथाऽन्यत्रापि बोध्यम्। यथा मनुष्यत्वजात्यभेदेऽपि ब्राह्मणक्षत्रियादिवर्णभेदाद् गायनपचनादिकार्यभेदाच्च व्यक्तिभेदो दुर्निवारस्तथैव

भेदों का वर्णन किया गया। यहां सोचना चाहिए कि स्थान, कर्म और रोगों के भेद से यद्यपि इनके प्राण, अपान आदि भिन्न भिन्न नाम होते हैं तथापि ये सर्वथा भिन्न भिन्न वस्तु नहीं बन जाते अर्थात सब ही वायु वायुस्वरूप हैं सब ही पित्त पित्तस्वरूप तथा सबही श्लेष्मा कफस्वरूप हैं, फिर भी प्राण कभी उदान के कार्य को नहीं कर सकता। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिए। जैसे सब ही मनुष्यों में मनुष्यत्व जाति अभिन्न है अतएव सबही मनुष्य जाति की दृष्टि से अभिन्न हैं फिर भी ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णभेद से तथा गाना, पकाना आदि कार्य भेद से व्यक्तिभेद भी दुर्निवार है (ब्राह्मण के कार्य शूद्र से नहीं होते, क्षत्रिय के कार्य ब्राह्मण से नहीं होते, पाचक के कार्य गायक से नहीं होते इत्यादि कारण से व्यक्तिभेद दुर्निवार है) इस प्रकार वातादि जाति में भेद न होने पर भी प्राणादि में

वातादिजात्यभेदेऽपि प्राणापानादिव्यक्तिभेदो दुर्निवार एव।

यतो वातादिर्विशिष्टं स्थानमासाद्य नामकर्मरोगभेद-भाक् संजायते ततो व्यक्तावपि कश्चिद् भेदः संजायत एव। यथा साधारणो मनुष्यो राजासनमधिकृत्यासाधारणः संजायते, राजा वा भ्रष्टराज्यो व्याधेन संगतस्तत्सदृशो भवतीति। कथंचिद् वस्तुभेदमन्तरेण नामकर्मभेदो न सम्भवति, नैतावता वस्तुपरिवृत्तिराशंकनीया, नहि खलु कृषको राजा सन्नमानुषः संजायते कदाचिदिति। यदि विशिष्टस्थानाधिकारादेव संज्ञाभेद इष्यते ततो व्यान-

व्यक्ति भेद दुर्निवार है।

वातादि विशिष्टस्थान को प्राप्त करके जब नाम, कर्म और रोग भेद को प्राप्त करते हैं तो व्यक्ति में भी कुछ भेद अवश्य हो जाता है जैसे साधारण मनुष्य भी राजासन को प्राप्त करके असाधारण बन जाता है। अथवा राज्यभ्रष्ट राजा व्याधों के साथ मिलकर तत्सदृश बन जाता है। कथंचित् वस्तुभेद न होने से नाम कर्मों में भी भेद नहीं हो सकता किन्तु इतने भेद से वस्तु में परिवर्तन की आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि कृषक कभी राजा हो जावे तो अमानुष नहीं होता है वह

स्यापि पञ्चविधा संज्ञा सम्भवति सर्वशरीरचारित्वात्। विचारकासनोपविष्टो जडोऽपि विचारकपदवीं लभेत। तस्माद् विभिन्नस्थानस्थितानां वातादीनां नामकर्मामयभेददर्शनाद् व्यक्तिभेदः किन्तूपादानाभेदाज्जात्यभेदः सिध्यति।

भवन्ति चात्र—

स्थानकर्मामयानान्तु भेदो यतः प्रदृश्यते।
प्राणादीनां ततस्तेषां व्यक्तिभेदोऽपि सिध्यति॥
किन्तूपादानभेदोऽत्र कल्पयितुं न शक्यते।

मनुष्य ही रहता है। यदि केवल विशिष्ट स्थान के अधिकार से ही संज्ञाभेद मानना चाहे तो सर्वशरीर में रहने वाले व्यान वायु की भी पांच प्रकार की संज्ञा हो सकती है। तथा विचारक के आसन में बैठकर जड़ (महामूर्ख) भी विचारक संज्ञा को प्राप्त कर सके। अतएव भिन्न भिन्न स्थान में रहने वाले वातादिकों के नाम, कर्म और रोगभेद देखकर व्यक्तिभेद सिद्ध होता है अथच उपादान में भेद सिद्ध न होने से जाति का अभेद भी सिद्ध होता है।

संग्रह श्लोक की व्याख्या—प्राणवायु आदि के स्थान, कर्म, नाम और रोगों का भेद देखा जाता है किन्तु

जातिभेदस्ततो नास्ति प्राणाद्या वात एव हि ॥
व्यक्तिभेदः प्रतिव्यक्ति सर्वत्रैव प्रदृश्यते ।
जातिभेदो न यत्रास्ति तत्र वस्तु न भिद्यते ॥

इति वातादिस्वरूपभेदादि वर्णनाख्यो नवमोऽध्यायः ।

उपादान में भेद की कल्पना भी नहीं हो सकती अतएव जाति भेद सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्राण अपान आदि सब ही वायुजातीय हैं। प्रत्येक व्यक्ति में व्यक्ति भेद तो सर्वत्र ही रहता है किन्तु जब तक जाति भेद सिद्ध नहीं होता तब तक वस्तुभेद नहीं माना जाता ।

वातादि के स्वरूप भेदादि वर्णन नामक नवम
अध्याय समाप्त ।

दशमोऽध्यायः

वातादीनां रोगकारणत्वं कीदृशम्—

वातादीनां रोगकारणत्वमभिहितम्—तत्र कीदृशं कारणत्वं वातादीनामिति विचार्यते ।

केचिदाहुर्विकृता वातादय एव रोगा दुःखकारणत्वात् । दुःखकारणमेव रोगो यदुक्तं चरकेण "विकारो दुःखमेव च" । तत्र दुःखस्यात्मगुणस्य रोगत्वं न सम्भवतीति दुःखकारणं

वातादिकों का रोगकारणत्व किस प्रकार का है—

वातादि दोषों को रोगों का कारण बताया गया है अब विचार किया जाता है कि वातादि दोष रोगों के कैसे कारण हैं ? एक सम्प्रदाय के मत में विकृत वातादि ही रोग हैं क्योंकि दुःख कारण को रोग कहते हैं जैसा कि चरक जी ने लिखा है कि दुःख को रोग कहते हैं । वहां के दुःख शब्द से केवल दुःख को समझा जावे तो वह आत्मा का गुण होने से रोग नहीं कहला सकता अतएव वहां दुःख के कारण धातुवैषम्य को दुःख शब्द से

धातुवैषम्यं दुःखशब्देनावगम्यते। "विकारो धातुवैषम्य"मिति। अत्रापि धातुशब्देन वातादयोऽपि ज्ञेयास्तेषां वैषम्यस्य दुःखकारणत्वात्। तथाचोक्तम्-विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्धयन्ति चेति। तद्दुःखसंयोगा व्याधय इति सुश्रुताचार्यकृतरोगलक्षणेऽपि तेन पुरुषेण सह दुःखस्य दुःखकारणस्य विषमदोषस्य संयोग एव रोगो वाच्यो दुःखेन सह संयोगासम्भवात्, नहि गुणेन सह कस्यचित्संयोगो भवति नाम। यत्र कुपितदोषजन्योऽपि कश्चिद्रोगो दृश्यते तत्र ज्वरजन्य-

समझना चाहिए। जहां लिखा है कि धातुवैषम्य को विकार कहते हैं, वहां भी धातु शब्द से वातादि को भी समझना चाहिए क्योंकि उनका वैषम्य भी दुःख का कारण होता है। शास्त्र में लिखा है कि वातादि विकृत होकर शरीर का नाश करते हैं और अविकृत अवस्था में रह कर शरीर को बढ़ाते हैं। श्रीमान् सुश्रुत जी ने व्याधि का लक्षण लिखा है कि तद्दुःख संयोग को (पुरुष से दुःख संयोग को) व्याधि कहते हैं। वहां भी दुःख गुण के साथ पुरुष का संयोग होना असम्भव है (गुण के साथ द्रव्य का समवाय सम्बन्ध होता है संयोगसम्बन्ध नहीं होता) अतएव अर्थ करना पड़ता है कि पुरुष के साथ दुःख का अर्थात् दुःख के

रक्तपित्तवद्रोगजन्यो रोग एव बोध्यः। एतन्मते दोषाणामेव कुपितानां रोगस्वरूपत्वाद्रोगकारणत्वं दोषाणां न घटते। नहि स्वरूपमेव कारणमिति संज्ञां लभते कदाचित्। केचिन्निमित्तकारणत्वं दोषाणां मन्यन्ते, तथाहि—प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वमिति दोषलक्षणे दुष्टिकर्तृत्वमेव दोषाणामुक्तम् कार्यस्य कर्त्ता निमित्तकारणमेव कथ्यते।

कारण विषम दोष के संयोग को व्याधि कहते हैं। जहां कुपित दोष से उत्पन्न रोग मालूम पड़ता है वहां ज्वरजन्य रक्तपित्तवत् रोग जन्य रोग समझना चाहिए। (रोग से भी रोग की उत्पत्ति चरक में लिखी हुई है जैसे—कोई रोग भी रोगों का कारण होकर स्वयं शान्त होता है कहीं स्वयं शान्त नहीं होता अथच अन्य रोग का हेतु बनता है जैसे ज्वर रोग रक्त पित्त रोग का हेतु होता है इस प्रकार विकृत वायु भी रोग है उससे यदि ज्वर होता है तो वह ज्वर रोगजरोग होगा) इस मत में कुपित दोष ही रोग का स्वरूप है अतः वह रोग का कारण नहीं कहला सकता क्योंकि स्वरूप कभी कारण संज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकता।

एक सम्प्रदाय दोष को निमित्त कारण मानता है। उनका कहना है कि प्रकृति का आरम्भक होकर जो दुष्टि का कर्ता होता है

ततो रोगकर्तॄणां दोषाणां निमित्तकारणत्वमेव सिध्यति। ननु यदि निमित्तकारणं दोषस्तर्हि कथं तदारब्धे विकारे वमनादिना दोषहरणं विधीयते? नहि दण्डकुलालाद्युच्छेदे घटोच्छेद इति। तत्र समाधीयते यत्र यावन्निमित्तकारणस्थायि कार्यं तत्र निमित्तकारणविनाशादपि कार्यनाशो यथा वर्तितैलविनाशाद्दीपनाश इति केचिद् भाषन्ते।

उसको दोष कहते हैं, इस प्रकार दोष लक्षण में दोष को दुष्टिकर्ता माना गया है। कार्य का कर्ता निमित्त कारण ही होता है अतः रोग का कर्ता भी निमित्त कारण ही होगा। इस मत के ऊपर शंका होती है कि दोष यदि रोगोंके लिए निमित्त कारण ही हैं तो दोष से उत्पन्न रोग के नाश के लिए वमनादि द्वारा दोष (निमित्तकारण) को क्यों दूर किया जाता है? जैसे घट के निमित्त कारण दण्ड कुलाल (कुम्हार) आदि के नाश से कभी घट का नाश नहीं होता है (ऐसे ही दोष यदि निमित्त कारण है तो उसके उच्छेद से रोग का उच्छेद नहीं होगा) इस शंका के समाधान के लिए कोई कोई कहते हैं कि जहां कार्य यावन्निमित्त कारणस्थायी (जब तक निमित्त कारण रहेगा तबतक ही जो कार्य रहेगा उस कार्य को यावन्निमित्तकारणस्थायी कहते हैं) है वहां निमित्तकारण के नाश से भी कार्यका नाश होता है जैसे प्रदीप के

केचित्तु समवायिकारणत्वमेव दोषाणां मन्यन्ते। तथाहि-दोषदूष्यसंमूर्च्छनाजनितोऽवस्थाविशेषो व्याधिरिति लक्षणे दोषदूष्ययोर्व्याध्यारम्भकत्वात् घटारम्भककपालकपालिकयोरिवावयवत्वं समवायिकारणत्वं च वाच्यमेव, तत एव रोगशान्तये तत्समवायिकारणानां निर्हरणं क्रियते। अपनीते खलु समवायिकारणे स्वाश्रयनाशादसमवायिकार-

---

लिए वत्ति तैल आदि निमित्तकारण हैं फिरभी इनके नाशसे प्रदीप का नाश होता है ऐसे ही निमित्तकारण दोष के नाश से रोग का नाश हो सकता है।

एक सम्प्रदाय दोषों को समवायीकारण मानता है उनका कहना यह है कि दोष और दूष्यों की सम्मूर्छना (विशिष्ट मिलन) जनित अवस्थाविशेष को रोग कहते हैं इस लक्षण में दोष और दूष्य दोनों को व्याधि का आरम्भक माना गया है अतः घट के आरम्भक कपाल और कपालिका को जैसे घट का समवायीकारण माना जाता है वैसे ही रोग के आरम्भक दोष और दूष्य को भी समवायीकारण मानना चाहिए इसीलिए रोगशान्ति के लिए उसके समवायीकारण दोषों को निकाल देते हैं (कहीं-कहीं दूष्यों को भी निकालते हैं) रोगों के समवायीकारण दोषों को

णमपि नश्यति ततः कार्यभूतस्य रोगस्य विनाशः सम्पद्यत इति। द्रव्यस्वरूपाणां दोषाणामसमवायिकारणत्वं केनापि कल्पयितुं न शक्यते। बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा विभक्ते रोगकारणे दोषाणामाभ्यन्तरकारणत्वं तत्प्रकोपकाणान्तु मिथ्याहारविहारादीनां बाह्यकारणत्वमिति विभागः सम्भवति। तथाचोक्तम्—'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्' इति। एवं पूर्वाचार्याणां वैमत्यदर्शनात् सन्दिह्यते किमत्रतत्त्वमितिचेत्-

---

निकाल देने से अपने आश्रय के नाश से असमवायीकारण भी नष्ट हो जाता है जिससे कार्यभूत रोग का नाश होना सम्भव होता है। द्रव्य रूप दोषों को असमवायीकारण कोई भी नहीं कह सकता क्योंकि गुण और कर्म ही असमवायीकारण होसकते हैं।

रोगों के लिए बाह्य कारण और आभ्यन्तर कारण भेद से दो प्रकारके कारण भी माने जाते हैं तदनुसार शरीर के अभ्यन्तर रहने वाले दोष आभ्यन्तर कारण कहलाते हैं और उनके प्रकोपक मिथ्याहार विहारादि को वाह्य कारण कहते हैं। शास्त्रमें लिखा है कि सबही रोगों के कारण कुपित दोष हैं किन्तु उन दोषों को कुपित करने वाले कारण नाना-

अत्र विचार्यते—वैषम्यमाप्तानां दोषाणामेव रोगत्वे दोषो रोगश्चेति द्विविधसंज्ञाकल्पनं निरर्थकं संजायते। यतो वैषम्यमाप्तानां दुष्टिकारकाणां वातादीनामेव दोषसंज्ञा समानां तु धातुसंज्ञैवेति प्रागभिहितम्। तत्र विषमाणां सर्वेषामेव वातादीनां रोगत्वे समानां च दुष्टिकर्तृत्वाभावाद् दोषसंज्ञैव विलुप्येत। किञ्च वैषम्यमाप्तानां वातादीनामेव रोगत्वे पूर्वरूपसम्प्राप्तिसंज्ञकयोर्निदानत्वाभावाद्रोगविज्ञानस्य पञ्चविधत्वं व्याहन्यते। तथाहि—भाविव्याधिबोधकस्य पूर्वरूपत्वमुक्तं

विध अहित सेवन हैं। शास्त्रकारों के इस प्रकार परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त देखकर संशय होता है कि इसमें सत्य क्या है? इस संदेहको दूर करनेके लिये विचार किया जाता है—विषम दोषको ही रोग माना जावे तो दोष संज्ञा और रोग संज्ञा ऐसी दो प्रकार की संज्ञाओं की कल्पना निरर्थक हो जाती है क्योंकि विषम होकर वातादि जब दुष्टि कारक होते हैं तब ही उनकी दोष संज्ञा होती है किन्तु जब तक वातादि साम्यावस्था में रहकर शरीर को धारण करते हैं तब तक इनको धातु कहते हैं इसको पहिले ही सिद्ध कियां है। यहां सब ही विषम दोषों को रोग कहा जावे तथा साम्यावस्था में वातादि को दोष न कहा जावे तो दोष संज्ञा ही

विषमदोषमात्रस्य व्याधित्वे भाविव्याधिबोधकं किंचिन्न सम्भवति । तथा दोषमात्रस्यैकस्य रोगत्वे सम्प्राप्तिः सम्यक् प्राप्तिर्दोषदूष्ययोर्विशिष्टमिलनरूपा न सम्भवति । किञ्च, वातिको व्याधिः पैत्तिको व्याधिरित्यादिप्रयोगो न संगच्छते, वातो व्याधिः पित्तं व्याधिरित्यादिप्रयोग एव कार्यः स्यात् । किञ्च, "नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद् विचक्षणः । अनु-

---

लुप्त हो जाती है । और भी सोचना चाहिए कि विषम वातादि को हो कहा जावे तो रोगों के पूर्वरूप तथा रोगों को संप्राप्ति नामक कोई वस्तु न रहनेसे रोगोंके निदान पांच प्रकारके नहीं रहते । क्योंकि भावी व्याधिबोधक लक्षणको पूर्वरूप कहते हैं किन्तु विषम दोष मात्र को रोग कहें तो भावी व्याधिका बोधक कुछ भी लक्षण नहीं हो सकता । ऐसे ही कुपित दोष मात्रको व्याधि कहने से दोष-दूष्यों की विशिष्टमिलनरूपा सम्प्राप्ति भी कुछ नहीं रहती । और भी, वातिक रोग, पैत्तिक रोग ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता किन्तु वात रोग, पित्त रोग ऐसा प्रयोग करना चाहिए । और भी, चरक में लिखा है कि "दोषों को छोड़ कर रोग नहीं हो सकता इसलिये जिस रोग का उल्लेख शास्त्रमें नहीं है उसकी चिकित्सा भी दोषों के लक्षणानुसार करनी चाहिये" यहां रोग और दोषों के कार्य

क्रमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरे"दिति रोगदोषयोः कार्यकारणताख्यापकं शास्त्रवचनमप्यप्रमाणं स्यात्। किञ्च, "दोषा अबलीयांसो यदा नानुरुध्यंते न तदा विकाराभिनिवृत्तिरि"ति दोषविकारयोर्भिन्नताबोधकं चरकवचनमप्रमाणं स्यात्। किञ्च, कस्यचिद् दूषकत्वमन्तरेण दोषसंज्ञैव न जायते। किञ्च, विषमदोषाणामेव रोगत्वे रात्रिदिनादिकारणैः सततदोषवैषम्याद्रोगसातत्यप्रसंग इति। तस्माद्विषमाणामेव दोषाणां रोगत्वमिति न संगच्छते किन्तु रोगकारणं विषमो दोष इति शास्त्रयुक्तितर्कादिभिः सिध्यति।

कारणताबोधक शास्त्रवाक्य को अप्रमाण कहना पड़ता है। और भी—"दुर्वल दोष जब तक प्रधानता को प्राप्त नहीं करते तब तक उनसे रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती" दोष और रोग के भेदबोधक इस शास्त्रवाक्य को अप्रमाण कहना पड़ेगा। और भी, जो किसी को दुष्ट न करे उसकी दोषसंज्ञा ही नहीं हो सकती। और भी, विषम दोषको हो रोग कहा जावे तो रात्रि, दिन, भोजन आदि के आदि मध्यादि समय में कुछ न कुछ दोष की विषमता रहती है जिससे सब ही को सर्वदा के लिये रोगी कहना चाहिए। अतएव विषम दोष को ही रोग कहना संगत नहीं है किन्तु दोष

तत्र दोषाणां निमित्तकारणमात्रत्वे रोगशांतये दोषनिर्हरणं निरर्थकमापद्यते यतो निमित्तकारणनाशात् कार्यनाशः कुत्रापि न सम्भवतीति युक्त्या प्रतिपादितं पञ्चभूतविज्ञाने। किंच, दोषाणां केवलं रोगकर्तृत्वे रोगोत्पत्त्यनन्तरं रोगस्थितये नियमेन दोषस्थितिर्नापेक्ष्येत, नहि संजातस्य कार्यस्य स्थितये कर्तुः सान्निध्यस्य प्रयोजनं कुत्रचिद्दृष्टमिति। तस्मान्न निमित्तमात्रत्वं दोषाणामथ च दुष्टिकर्तृत्वान्निमित्तत्वमपि प्रत्या-

---

रोगों का कारण है" यह तो शास्त्रयुक्ति तर्कादि से सिद्ध होता है।

दोष यदि रोगों के निमित्तकारणमात्र होते तो रोग की शान्ति के लिये दोषों का निर्हरण करना निरर्थक होता क्योंकि निमित्तकारण के नाशसे (उत्पन्न) कार्यका नाश कभी नहीं हो सकता इसको पंचभूतविज्ञान में सिद्ध किया है। और भी, रोग की उत्पत्ति के लिये दोषों को केवल कर्ता माना जावे तो उत्पत्ति के बाद रोग की स्थिति के लिये नियमपूर्वक दोषों का सान्निध्य आवश्यक नहीं हो सकता क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के बाद उसकी स्थिति के लिये कर्ता के सान्निध्य का प्रयोजन कहीं नहीं देखा गया। अतएव दोष केवल निमित्तकारण नहीं है परन्तु रोगों को उत्पन्न करने वाला दोष निमित्तकारण है इस बात को भी अस्वीकार

ख्यातुं शक्यते। रोगाणामुपादानमात्रत्वे दोषाणां दूष्याद्भेदः कश्चिन्न स्यात्, यथा कपालकपालिकयो र्द्वयोरेव तुल्यमुपादानत्वं तथा वातरक्तरोगादौ वातादीनां रक्तादीनां च तुल्यमेवोपादानत्वं स्यान्नतु कस्यचिद्दोषसंज्ञा नियमेन कस्यचिच्च दूष्यसंज्ञा वर्णिता शास्त्रेषु दृश्येत तस्माद्दुष्टौ कर्तृत्वाद्रोगेषु दोषाणां यथा निमित्तत्वं तथैव रोगावस्थायामपि दूष्येण सह नियमेन मिलित्वावस्थानादुपादानकारणत्वमिति द्विविधकारणत्वमेव दोषाणां सिध्यति। व्रणप्रश्नाध्याये श्रीमता

नहीं कर सकते। यदि दोषों को रोग का उपादानमात्र माना जावे तो दूष्य से इनका कुछ भेद ही नहीं रहता। जैसे घट के आरम्भक कपाल और कपालिका दोनों ही एकसे उपादान हैं ऐसे ही वातरक्त रोग के आरम्भक वायु और रक्त दोनों हीं एकसे उपादान होते। ऐसा होता तो शास्त्र में नियमपूर्वक किसी का दोष रूपसे और किसी का दूष्य रूपसे वर्णन नहीं देखा जाता। अतएव दुष्टि का कर्ता दोष जैसा निमित्तकारण है ऐसे ही रोगावस्था में भी दूष्य में मिलित रहकर रोगकी स्थितिके कारण होने वाले दोष उपादानकारण भी हैं। अतः दोष दोनों प्रकार के कारण हैं।

सुश्रु तेनापि रोगोत्पत्तिवर्णनप्रसंगे प्रागपथ्यसेवनात् स्व-स्वाशये दोषाणां संचयोऽभिहितस्तत्र दोषसंचयजन्यानां दुःखदानां लक्षणानामुल्लेखं कृत्वा प्रथमः क्रियाकालः स इत्यपि कथितस्तथापि तस्य व्याधिसंज्ञा न कृता। ततः प्रकोपनमुल्लिख्य तत्रापि दुःखदानां लक्षणानां समुल्लेखः कृतः स च द्वितीयः क्रियाकालोऽपि वर्णितः किन्तु तस्यापि व्याधिसंज्ञा न कृता। प्रसरमभिधाय तत्र जातानां दुःखदानां लक्षणानामुल्लेखं कृत्वा स तृतीयः क्रियाकालो वर्णितः किंतु

व्रणप्रश्नाध्याय में रोगों की उत्पत्तिवर्णन प्रसंग में श्रीमान् सुश्रुत जी ने लिखा है कि प्रथम तो अपथ्य सेवन से दोष अपने अपने आशय में संचित होता है। उससे जो जो दुखदायी लक्षण होते हैं उनका उल्लेख करके उस समय को प्रथम क्रियाकाल (चिकित्सा समय) भी लिख दिया परन्तु उसको व्याधि नहीं माना है। संचय के बाद प्रकोप का उल्लेख करके उस समय होने वाले दुखदायी लक्षणों का उल्लेख करके उस समय को द्वितीय क्रियाकाल भी बताया है किन्तु उसको भी व्याधि नहीं कहा। प्रकोप के बाद प्रसर का वर्णन करके उस समय होने वाले दुख-दायी लक्षणों का उल्लेख किया उसको तृतीय क्रियाकाल भी

तस्यापि व्याधिसंज्ञा न कृता। ततः स्थानसंशयमभिधाय तदनन्तरं पूर्वरूपाणां प्रादुर्भावो वर्णितः। पूर्वरूपे यानि दुःखदानि लक्षणानि संजायन्ते तेषामपि व्याधिसंज्ञा न कृता। ततोऽभिहितमत ऊर्ध्वं व्याधिदर्शनं व्याख्यास्याम इति। एतेनावगम्यते संचिताः प्रकुपिताः प्रसृताश्च दोषा दूष्यविशेषमासाद्य तेन सह विशिष्टमिलनं प्राप्नुवन्ति। समिताशर्कराघृतानां मिलनविशेषाद् विशिष्टमिष्टान्नोत्पत्तिरिव दोषदूष्याणामपि मिलनविशेषादेव विशिष्टरोगोत्प-

---

बताया किन्तु उसकी भी व्याधिसंज्ञा नहीं की। प्रसर के बाद स्थानसंशय का वर्णन करके उसके बाद पूर्वरूप की उत्पत्ति का वर्णन किया है। पूर्वरूप में जितने दुखदायी लक्षण होते हैं उनकी भी व्याधि संज्ञा नहीं की। इसके बाद लिखा है कि 'इसके बाद व्याधिदर्शन का वर्णन करूँगा'। इससे समझा जाता है कि—संचित, प्रकुपित और प्रसृत दोष किसी विशेष दूष्य को अवलम्बन करके उस दूष्य के साथ विशिष्ट मिलन को प्राप्त होते हैं। जैसे घी, मैदा, शर्करा आदि के मिलन के वैशिष्ट्य से भिन्न भिन्न प्रकार के मिष्टान्न बनते हैं ऐसे ही दोष और दूष्यों के विशिष्ट मिलन से ही विशेष विशेष रोगों को उत्पत्ति होती है। इस प्रकार

त्तिः संजायते। एवं विशिष्टमिलनमेव सम्प्राप्तिः परिकथ्यते। यावद्दोषदूष्याणां विशिष्टं मिलनं सम्यक्तया न सम्पद्यते न तावद् व्याधिसंज्ञा नहि शर्करासमिताघृतसंयोगमात्रादेव मिष्टान्नोत्पत्तिः किन्तु विशिष्टमिलनादेव विशिष्टमिष्टान्नोत्पत्तिः। दोषदूष्याणां विशिष्टमिलनावस्थायां यानि लक्षणानि जायन्ते तानि व्याध्युत्पत्तेः पूर्वभावीनीत्यतः पूर्वरूपसंज्ञां लभन्त इति। यथा च वह्नितापादिभिः सम्यक् पक्काः समिताशर्करादयोऽपूपामृतिकादि-

---

विशिष्टमिलन को सम्प्राप्ति कहते हैं। जब तक दोष दूष्यों का विशिष्ट मिलन अच्छी तरह से सम्पूर्ण नहीं होता तब तक व्याधि संज्ञा नहीं होती क्योंकि केवल घी, मैदा, शर्करादि के संयोग मात्र से ही मिष्टान्न की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु विशिष्टमिलन से होती है। दोष दूष्योंके विशिष्टमिलन के कालमें जो जो लक्षण होते हैं व्याधि की उत्पत्ति से पूर्व होने के कारण उनको पूर्वरूप कहते हैं। जिस प्रकार मैदा, घी, शर्करा आदि अग्नितापादि से सम्यक पक्क होकर मालपूया, इमरती आदि विशिष्ट नाम को प्राप्त करते हैं, पाक समाप्ति से पहिले किसी विशिष्ट नाम को ग्रहण नहीं करते

संज्ञां लभन्ते पाकसमाप्तेः प्राक् न कंचिन्नामविशेषं भजन्ते किन्तु विशिष्टगन्धादिकमुत्पादयन्ति तथैव दोषदूष्याणां विशिष्टमिलनक्रियासमाप्तौ ज्वरादिरोगसंज्ञा जायते दोषदूष्यसमूर्च्छनावस्थायां जातानि लक्षणानि पूर्वरूपाण्युच्यन्ते। "दोषेतिकर्त्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म सम्प्राप्ति" रिति यदुक्तं तस्यापि जन्मसाधकविशिष्टमिलनरूपोऽर्थो बोध्यः आद्य-

---

हैं; किन्तु पाक समय में भी विशिष्ट गन्धादि को उत्पन्न करते हैं इसी प्रकार दोष दूष्यों की विशिष्टमिलनक्रिया समाप्त होने से ज्वरादि विशिष्ट व्याधिसंज्ञा होती है, दोष-दूष्यों की सम्मूर्च्छना (विशिष्ट मिलन) की अवस्था में उत्पन्न होने वाले लक्षण पूर्व रूप कहलाते हैं। यहां सन्देह होता है कि श्रीमान् विजयरक्षितने दोषेति कर्तव्यता से उपलक्षित व्याधिजन्म को संप्राप्ति कहा है। यहां विशिष्ट मिलन को संप्राप्ति क्यों माना जावे ? इसका उत्तर यह है कि श्रीमान् विजयरक्षित के लक्षण में भी "व्याधिजन्म" शब्द से दोष दूष्यों का ऐसा विशिष्ट मिलन जिससे व्याधिजन्म हो सकता है" इतना अर्थ लेना पड़ेगा। यदि जन्ममात्र को सम्प्राप्ति कहा जाय तो आद्यक्षण सम्बन्ध (प्रथमक्षण से सम्बन्ध) ही जन्म

क्षणसम्बन्धरूपस्य जन्मनः सम्प्राप्तित्वस्वीकारे सा सम्प्राप्तिर्द्वितीयक्षणे स्वयमेव विनश्यति, ततः सम्प्राप्तिनाशाद्व्याधिनाशः स्वयमेव प्रसज्यते। सम्प्राप्तिलक्षणस्य संयोगस्य रोगासमवायिकारणता विजयेनापि स्वीकृता, तस्मान्न जन्मैव सम्प्राप्तिः किन्तु जन्मसाधको विशिष्टसंयोग इति।

पूर्वोक्तसुश्रुतप्रकरणादवगम्यते यद्वातादयः स्वकारणातिसेवनात् स्वाशये संचिताः स्वप्रकोपकैः प्रकुपिताः स्वाश-

---

कहाता है, द्वितीय क्षणमें जन्म तो स्वय ही नष्ट होजाता है अतः इस नियम के अनुसार यदि द्वितीयक्षण में संप्राप्ति भी स्वयं नष्ट हो जावे तो रोग का भी नाश स्वयं ही हो जायगा ऐसा कहना पड़ता है। विजयरक्षित जी ने यह भी लिखा है कि 'संप्राप्तिरूप संयोग ही रोग का असमवायीकारण है।' यदि रोग का असमवायीकारण संयोग (दोष दूष्यों के) को संप्राप्ति कहें तो व्याधिजन्म शब्द का सरल अर्थ न लेकर जन्मसाधक विशिष्टमिलन को ही संप्राप्ति मानना चाहिए।

पूर्वोक्त सुश्रुत प्रकरण से समझा जाता है कि वातादि स्वस्व कारणोंसे संचित स्वप्रकोपकसे प्रकुपित और अपने आशयसे प्रसूत होकर रसादि दूष्य पदार्थों को विकृत करके रोग उत्पन्न करते हैं

यात् प्रसृताश्च रसादीन् दूष्यसंज्ञितानाश्रित्य तान् विकृतिं नीत्वा रोगं जनयन्ति । दूष्येण सह मिलिता रोगावयवभूतास्तत्र तिष्ठन्ति । तस्माद्रोगकर्तृत्वान्निमित्त-कारणत्वं रोगारम्भकत्वात् समवायिकारणत्वमेतदुभयमेव दोषाणामिति । दोषा एव निमित्तकारणमिति नावगन्त-व्यमन्यान्यपि बहूनि निमित्तकारणानि सन्तीति विज्ञेयम् ।

ननु दोषाणामुभयविधकारणत्वं कथं सम्भवति कस्य-चिदेकस्यैकविधकारणत्वमेव दृश्यत इति चेदुभयविधकारण-

---

तथा दूष्यों के साथ मिलकर रोगों के अवयवस्वरूप होकर उसी में रहते हैं। अतएव रोगों के कर्त्ता होने से निमित्तकारण तथा रोगों के आरम्भक (उत्पादक अवयव) होने से समवायीकारण हैं अतः दोष दोनों ही कारण होते हैं। केवल दोष ही रोग के निमित्तकारण नहीं हैं और भी निमित्तकारण हैं।

यहां प्रश्न होता है कि एक ही दोष उभयविध कारण कैसे बन सकता है एक वस्तुकी एक प्रकारकी ही कारणता देखी जाती है उभयविधकारणता नहीं देखी जाती। इसका उत्तर यह है कि उभयविधकारणता भी देखी जाती है जैसे गन्धक द्रावक किनन् नामक द्रव्य को तरल कर देता है। द्रव करने वाले को द्रावक

त्वमपि दृश्यत एव यथा गन्धकद्रावकः क्विनीनाख्यं भेषजं द्रावयति ततो द्रावणकर्तृत्वात्तस्य द्रावकसंज्ञापि जायते। अथच क्विनीन्मिश्रणे गन्धकद्रावकस्योपादानत्वमपि वाच्यमेव तदपगमान्मिश्रणस्य स्थित्यसम्भवादिति। प्राचीनैरपि वेदान्तिभिरेकमेव ब्रह्म जगदुपादानं जगन्निमित्तञ्च वर्णितं तद्वदत्रापि अवधेयमिति।

भवतश्चात्र—

कार्यस्य यद्यदङ्गं तत् समवायि प्रकथ्यते।
कर्त्ता कार्यस्य सर्वत्र निमित्तं परिगण्यते॥
कार्याङ्गं यदि कर्त्ता स्याद् द्विधा हेतुस्ततो ध्रुवम्।

कहते हैं जिससे द्रावण क्रिया का कर्त्ता द्रावक ही है अथच किनिन् मिश्रण का गन्धक द्रावक उपादान भी है क्योंकि मिश्रण से द्रावक (तेजाब) को हटा देने से मिश्रण ही नहीं रहता। वेदान्त दर्शन के प्राचीन आचार्य भी एक ही ब्रह्म को जगत् का उपादान (समवायी) कारण और निमित्तकारण मानते हैं यहां भी ऐसा समझना चाहिये। कहा जाता है कि कार्य के जो जो अंग (अवयव) हैं उनको समवायीकारण कहते है। कार्य के कर्ता को सर्वत्र निमित्तकारण कहा जाता है। यदि कर्त्ता हो कार्य का

दोषः कर्त्ता रुजश्चाङ्गं ततो हेतुरयं द्विधा ॥

किं वातादीनमेवरोग कारणत्वमुतान्येषां वा कीटाण्वादीनामिति ?

द्विविधाः खलु रोगाः प्रसिद्धाः दोषजा आगन्तवश्च। तत्र वातादीनां सञ्चयप्रकोपादिक्रमेण ये रोगा जायन्ते ते दोषजाः, आगन्तवस्तु व्यथापूर्वं जायन्ते पश्चाद्दोषैरनुबध्यन्ते।

अंगीभूत बन जावे तो वह उभय प्रकार का (निमित्त और समवायी) हेतु अवश्य कहलाता है। दोष भी रोगों के कर्ता तथा अवयव हैं अतः उभयविध हेतु हैं।

क्या वातादि ही रोग-कारण हैं अथवा कीटाणु प्रभृति अन्य भी रोग के कारण हो सकते हैं ?

दोषोत्पन्न आगन्तुक मानस और स्वाभाविक भेद से चार प्रकार के रोग होते हैं। मानस रोगों के विचार का यह प्रसंग नहीं है। आगन्तुक रोग भी शरीर में होने से शारीर कहलाता है तथापि चिकित्साभेद के लिए इनका पृथक् वर्णन शास्त्र में किया जाता है। स्वाभाविक व्याधि के कारण और उसकी चिकित्सा दर्शन शास्त्र के विषय हैं।

वातादि दोषों के सचय प्रकोप प्रसरादि क्रम से जो जो रोग

यथा शस्त्रसंयोगात् प्रथमं क्षतं संजायते ततस्तस्मिन् क्षते वातादीनां संसर्गात् शूलदाहादिलक्षणानि संजायन्ते। वातादीनां विशिष्टसम्पर्काच्चागन्तुजा अपि पश्चाद् वातादिजन्या इव मन्यन्ते। दोषजास्तु विषमभोजनादिभिर्वातादीनां सञ्चय प्रकोपादिक्रमेण संजायन्ते। आगन्तवस्त्वभिघातादिकारणैः प्रागेवोत्पद्यन्ते ततो दोषैः सह सम्बन्धलभन्ते इति दोषजागन्तुकयोर्भेदः। एतन्मते निर्दोषो व्याधिर्न दृश्यते। दोषजानां

उत्पन्न होते हैं उनको दोषज कहते हैं। आगन्तुक रोग व्यथा पूर्वक उत्पन्न होकर पश्चात् दोष से मिलित होते हैं। जैसे शस्त्राघात से प्रथम क्षत उत्पन्न होता है पश्चात् उसमें वातादि के संसर्ग से दर्द, जलन आदि मालूम पड़ते हैं। आगन्तुक रोगमें जब वातादि का विशिष्ट सम्पर्क होकर वातादि की प्रधानता होती है तब उन रोगों को भी दोषज रोग समझा जाता है। दोषज और आगन्तुक रोग में भेद यह है कि दोषज रोग तो विषम भोजनादि से वातादि दोषों के संचय प्रकोप आदि क्रम से होते हैं किन्तु आगन्तुक रोग अभिघातादि कारणसे प्रथम उत्पन्न होकर पश्चादोषसे सम्बद्ध होते हैं। इस मत में निर्दोष व्याधि का अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि दोषज रोग की उत्पत्ति के लिए दोष रूप कारण की

समुत्पत्तावेव दोषरूपं कारणमपेक्ष्यते तस्माद्रोगापेक्षया दोषाणां पूर्वभावित्वम्। आगन्तुजरोगोत्पत्तौ दोषा नापेक्ष्यन्ते किन्तूत्पत्यनन्तरमेव दोषसम्बन्धो भवतीति नहि निर्दोषो रोगः कश्चिदुपलभ्यते। एतदेवोक्तं श्रीमता चरकेण "नास्ति रोगो विना दोषैरिति"।

अपरे मन्यन्ते—वातादीनां रोगकारणत्वे प्रत्यक्षं प्रमाणं नास्ति नवा वातादीनमस्तित्वमपि प्रत्यक्षेणावगम्यते। रोगावस्थायां ये वातपित्तकफाख्याः शरीरान्निर्गच्छन्ति तेषामपि रोगकारणत्वे नास्ति प्रमाण-

---

अपेक्षा हैं अतः रोग से दोष पूर्वभावी हैं। आगन्तुक रोगों का उत्पत्ति के लिये दोष की अपेक्षा नहीं है किन्तु उनकी उत्पत्ति के अनन्तर ही दोष से सम्बन्ध होता है अतः दोष से सम्पर्क रहित किसी रोग की उपलब्धि नहीं होती है। इस बातको श्रीमान् चरक जी ने लिखा है "कि दोष को छोड़कर रोग नहीं है"।

आधुनिक समझते हैं कि वातादि दोष रोगों के कारण हैं इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं। वातादि का अस्तित्व भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, रोगावस्थामें शरीर से जो वात पित्त कफ नामक द्रव्य निकलते हैं उनकी रोगकारणता भी प्रमाणसिद्ध नहीं है क्योंकि

स्वस्थशरीरादपि वातादिनिर्गमनदर्शनादिति। किंच, वातादीनां विरुद्धगुणानां परस्परमुपघातकत्वमेव सम्भवति वायुजलानलानामिव नतु मिलित्वा शरीरधारणं रोगोत्पादनं वेति। किञ्च यदि समानगुणानामुपयोगाद्वृद्धिरसमानगुणानामुपयोगाच्च ह्रासस्तर्हि वातसमानगुणानामुपयोगाद्वातवृद्धिः श्लेष्मक्षयो वा भवेदिति नियमेन वक्तुं न शक्यते। किञ्च, वातादीनां साम्यादारोग्यं वैषम्याद्रोग इति नियमे स्वीकृते नक्तन्दिनतु भुक्तानामादिमध्यान्तानां

ऐसे मल पदार्थ स्वस्थ शरीर से भी निकलते रहते हैं। और भी जसे जल वायु और अग्नि परस्पर विरुद्धगुणविशिष्ट होने से एक दूसरे के घातक हैं ऐसे ही वातादि विरुद्धगुणयुक्त होने से एक दूसरे के घातक तो हो सकते है, किन्तु विरुद्ध गुण विशिष्ट पदार्थ मिलकर शरीर के धारण अथवा रोगोत्पत्तिरूप एक कार्य को नहीं कर सकते। और भी—यदि समान गुणसे वातादिकी वृद्धि तथा असमान गुण से इनका ह्रास होता है तो वायु के समान गुण के उपयोग से वायुवृद्धि होगी या कफ का ह्रास होगा इसको निश्चय करके नहीं कह सकते। और भी—वातादि की समानता से आरोग्य और उनकी विषमता से यदि रोग होता है तो दिन,

च दोष प्रकोपकत्वे सर्वेषां सर्वदा रोगिसंज्ञा सम्भवति नारोग्यं कस्यचित् कदाचिदपीति। तस्मात् कल्पनामात्रमेवावगच्छ त्रिदोषसिद्धान्तं प्राचीनानामिति। सूक्ष्मदर्शकयंत्रादिराहित्य-मल्पज्ञत्वं च तन्त्रकाराणामलीककल्पनाया मूलमधुना ज्ञानविज्ञानादीनां समुन्नतिस्ततश्च सूक्ष्मदर्शकयन्त्रादीना-माविष्कारस्ततश्च विभिन्नरोगजनकानां विभिन्नाकारप्रकार-स्वभावादिमतां विभिन्नानां कीटाणूनामाविष्कारोऽपि समभ-

---

रात्रि, भोजन, वयः ऋतु आदि के आदि में कफ का, मध्य में पित्त का अन्त में वायु का, कोप होने से ऐसा समय नहीं मिलता है जब किसी भी दोष का प्रकोप न हो अतएव सब ही का सर्वदा के लिए रोगी कहना पड़ता है, कभी किसी को सम्पूर्ण नीरोग नहीं कह सकते। अतएव प्राचीनों के त्रिदोष सिद्धान्त को कल्पना मात्र ही समझना चाहिये। उनके पास सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आदि नहीं थे और चिकित्सा शास्त्र की प्रारम्भिकावस्था में तन्त्रकार भी बहुदर्शी नहीं बने थे जिससे त्रिदोषसिद्धान्त जैसे अलीक कल्पना की उत्पत्ति हुई थी। अब तो ज्ञान-विज्ञान की समुन्नति हुई, उससे सूक्ष्मदर्शक यन्त्रादिकों का आविष्कार हुआ, जिससे विभिन्न रोगों के उत्पादक, विभिन्न आकार प्रकार वाले,

वत्। एते खलु कीटाणवस्तत्तद्रोगाक्रान्तजीवशरीरे समुपलभ्यन्ते तस्मादन्यत्र स्वतः परतो वा संक्रामन्ति ततस्तत्रापि तल्लक्षणमेव रोगं जनयन्ति, समुपलभ्यन्ते च तत्रापि पूर्ववदिति। शरीरप्रविष्टा एते कीटाणवस्तत्र स्वानुकूलां परिस्थितिमासाद्य शीघ्रमेव प्रवृद्धा असंख्येया भवन्ति, किञ्चिद् विषं च शरीरघातकमुत्पादयन्ति, तस्माद्विषाद्रोगः संजायते। शरीरप्रविष्टाः कीटाणवो यदि

विभिन्न स्वभाव वाले, विभिन्न कीटाणुओं का आविष्कार हुआ। ये सब कीटाणु तत्तत् रोगसे आक्रान्त जीवोंके शरीरमें पाये जाते हैं वहां से स्वयं अथवा दूसरे की क्रिया से दूसरे शरीर में प्रवेश करके उसी रोग को करते हैं जिस रोगके वे कीटाणु हैं। तथा उस रोगी के शरीर में भी ऐसे ही पाये जाते हैं। यह कीटाणु किसी के शरीर में प्रविष्ट होकर वहां अनुकूल परिस्थिति को प्राप्त करके शीघ्र ही अति बहुसंख्या में बढ़ जाते हैं यहां तक कि असंख्य हो जाते हैं फिर एक प्रकार शरीरघातक विष उत्पन्न करते हैं जिससे रोग उत्पन्न होता है। शरीर में प्रविष्ट कीटाणु यदि वृद्धि के अनुकूल परिस्थिति को प्राप्त नहीं करते तो रोग उत्पादन न करके स्वयं विनष्ट हो जाते

स्वानुकूलां परिस्थितिं न लभन्ते रोगमनुत्पाद्यैव विनश्यन्ति। रोगावस्थायां यदि कीटाणव औषधादिभिर्विनश्यन्ति किम्वा स्वभावजातेन कृत्रिमेण वा प्रतिविषेण कीटाणव उपहन्यन्ते तदारोग्यं सञ्जायतेऽन्यथा कीटाणुविषेण मृत्युः संघटते रोगिणां कीटाणूनाञ्च बहूनाम्। प्रयोगसिद्धमेतत् सर्वं परिकल्पनं नात्र सन्देहावकाशोऽप्यस्ति, तस्मात् प्रत्यक्षदृष्टं सत्यसिद्धान्तमपहायाल्पज्ञपरिकल्पितानां वातादिदोषत्रयाणां रोगारोग्यकारणतास्वीकारो न संगच्छत इति भाषन्ते केचिदाधुनिकाः।

हैं। रोग अवस्था में यदि औषधादि द्वारा कीटाणु मर जावें किम्बा स्वभाव से शरीर में उत्पन्न अथवा कृत्रिम प्रतिविष से कीटाणुविष नष्ट हो जाता है तो रोगी को आरोग्य हो जाता है नहीं तो कीटाणु विष से रोगी भी मर जाता है बहुत सारे कीटाणु भी मर जाते हैं। यह सब परिकल्पना प्रयोगसिद्ध है जिससे सन्देह का अवकाश ही नहीं हैं। अतएव प्रत्यक्षदृष्ट सत्य सिद्धान्त को छोड़कर अल्पज्ञों की कल्पना से परिकल्पित वात, पित्त और कफ को रोग और आरोग्य का कारण मानना अनुचित है।

प्राच्यपाश्चात्यचिकित्साशास्त्रनिष्णाताश्चोभयतन्त्रे बद्धादराः केचित् कीटाणुजानां रोगाणामागन्तुकत्वं विषजानाभिवेच्छन्ति । तेषामयमभिप्रायः— यथा शृङ्गिकवत्सनाभाहिफेनादिविषद्रव्याणि शरीरं प्रविश्य दोषधातुमलादीन् संक्षोभ्यानियतलक्षणयुक्तानेव रोगान् जनयन्त्यागन्तुककारणान्युच्यन्ते तज्जाश्च रोगा आगन्तुजास्तद्वत् कीटाणवोऽपि शरीरमाविश्य स्वविषेण दोषधातुमलादीन् संक्षोभ्य रोगानुत्पादयन्त आगन्तवः कथ्यन्ते,

प्राच्य और पाश्चात्य उभय चिकित्साशास्त्र के पारदर्शी तथा उभयतन्त्र में विश्वास करने वाले कुछ विद्वान् कीटाणुजन्य रोगों को विषजन्य रोगवत् आगन्तुक रोग मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि जैसे शृंगिक, वत्सनाभ, अफीम आदि विष द्रव्य शरीर में प्रवेश करके दोष धातु मलादिकों को संक्षोभित करके नियत लक्षणयुक्त रोग को उत्पन्न करके आगन्तुक कारण कहलाते हैं और उससे उत्पन्न होने वाले रोग भी आगन्तुक कहलाते हैं ऐसे ही कीटाणु भी शरीर में प्रवेश करके अपने विष से दोषधातुमलादिकों को संक्षुब्ध करके जब रोग उत्पन्न करते हैं तो आगन्तुक कारण कहलाते हैं और उनसे होने वाले रोग भी आगन्तुक रोग

तज्जाश्चरोगा आगन्तुजा इति। एतन्मते अभिघातादिजानामिव कीटाणुजातानामप्यागन्तुजत्वमितरेषां चापरिदृष्टकीटाणामसंक्रामकानां च दोषजत्वमिति। कीटाणूनां कारणत्वकथनमन्तरा संक्रामकत्वमपि रोगाणां न समर्थयितुं शक्यते, नहि कस्यचिद्रोगिणः स्पर्शमात्रादेव त्रयो दोषाः प्रकुपिता घातकान् बहुदुःखदान् व्याधीन् जनयितुं शक्नुवन्ति। तस्मादपि यक्ष्मकुष्ठादीनामागन्तुजत्वमेव सिध्यतीति। एवं प्राप्ते दोषाणां कीटाणूनां वा रोगकार-

कहलाते हैं। इनके मत में अभिघातादि से उत्पन्न रोग जैसे आगन्तुक है कीटाणुजन्य रोग भी वैसे ही आगन्तुक हैं और जिन रोगों में कीटाणु दिखाई नहीं देते अथवा जो जो रोग संक्रामक नहीं हैं वे दोषज रोग हैं। कीटाणु को कारण न माना जावे तो संक्रामक रोग संक्रामक क्यों होता है इस बात का समर्थन करना असम्भव है। संक्रामक रोग से पीड़ित किसी रोगी को स्पर्श करने से ही शरीर में तीनों दोष प्रकुपित होकर बहुदुखदायी घातक रोग को उत्पन्न कर देते हैं ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु स्पर्श द्वारा कुष्ठादि रोगों के कीटाणु स्वस्थ शरीर में जाकर वहां त्रिदोष को कुपित करके रोग उत्पन्न कर सकते हैं अतएव यक्ष्मा कुष्ठ आदि

णत्वमिति विचार्यते। तत्र नैकस्मात् कारणात् किमपि कार्यमुत्पद्यते किन्तु कारणसमुदायादेव कार्योत्पत्तिः सर्वत्र दृश्यते। येन विना यन्न भवति तत्तस्य कारणमिति कारण सामान्यलक्षणम्। कार्योत्पत्तौ नियतावश्यकमेव कारणमिति तदर्थः। निमित्तकारणस्य कारणं न कार्यकारणं किन्तु घटस्य कुम्भकारजनकवदन्यथासिद्धं तदिति। उपादानस्योपादानमपि न कार्योपादानं यतः सूत्रमेव वस्त्रोपादानं किन्तु कार्पासादिकमन्यथासिद्धमेव। यत्तु

रोग भी आगन्तुक सिद्ध होते हैं ? इस परिस्थिति में विचार किया जाता है कि दोषही रोगका कारण है किम्वा कीटाणु अथवा उभय ही रोग-कारण हैं:—

एक ही कारण से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु कारण-समष्टि से कार्यों की उत्पत्ति सर्वत्र देखी जाती है। "जिस को छोड़ कर जो नहीं हो सकता वह उसका कारण है" कारण के इस लक्षण का अर्थ यह है कि कार्य की उत्पत्ति के लिये जिस की एकान्त आवश्यकता है वह ही कारण हो सकता है। निमित्त कारण का कारण घट के लिये कुम्भकार के पिता के समान कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है। उपादानकारण

कार्पासनाशादपि वस्त्रनाशो दृश्यते तत्र कार्पासनाशात् सूत्रनाशस्ततो वस्त्रनाश इति क्रमः प्रत्यक्षसिद्ध एव। नियतावश्यकीयानामपि कारणसंज्ञितानां न सर्वेषामेव तुल्यं कारणत्वं किन्तु कस्यचित् प्रधानकारणत्वं कस्यचिच्चाप्रधानकारणत्वमिति। अत्र रोगकारणं तथा ज्ञातव्यं यतश्चिकित्सोपयोगि विशेषज्ञानं सम्पद्यते, बहुकारणजन्यस्यापि रोगस्य "बहूनां स्थाने यो निष्पद्यते स लभतेऽन्यतमव्यपदेश"मिति नियमाच्चिकित्सोपयोगिविशे-

---

का उपादान भी कार्य का उपादान नहीं है क्योंकि वस्त्र का उपादान तो सूत्र ही है कार्पासादि वस्त्र के लिये अन्यथासिद्ध हैं। यद्यपि कार्पास के नाश से भी वस्त्रनाश होता है वहां कार्पासके नाश से सूत्र का नाश और सूत्र के नाश से वस्त्र का नाश होता है ऐसा क्रम प्रत्यक्षसिद्ध है। कार्योत्पत्ति के लिये जिनकी एकान्त आवश्यकता है उनमें से भी सब ही एक से कारण नहीं हैं, कोई तो प्रधान कारण है कोई अप्रधान कारण है। यहां रोगों के कारणों को उस प्रकार से जानना चाहिये जिनके ज्ञान से चिकित्सोपयोगी बिशेष ज्ञान प्राप्त होसके। "बहुतसे कारणोंसे जो कार्य उत्पन्न होता है वह प्रधान कारण के अनुसार नाम धारण करता

षज्ञानाय यस्य प्राधान्यं तदनुयायि नाम संजायत इति नियमः शास्त्रेषु परिदृश्यते। तत्र कीटाणूनां साक्षात्तया रोगजनकता नास्ति नहि कीटाणवः शरीरमाविश्य रोगं जनयितुं शक्नुवन्ति किन्तु क्रमशो दोषाणां संचयादिक्रमेण विकृतिमुत्पाद्य रोगं जनयन्ति। दोषविकृतिमपि कीटाणुर्न स्वयं जनयति किन्तु कीटाणुनिर्मितं विषमिति । कीटाणुप्रवेशादनन्तरं यावद्रोगानुकूला दोषविकृतिर्न जायते तावानव्यक्तीकालो

है" इस नियम के अनुसार बहुत से कारणों से उत्पन्न होने वाले रोगों के कारणों में से चिकित्सोपयोगी विशेष ज्ञान के लिये जिस कारण की प्रधानता है रोग का नाम उसके अनुसार होता है ऐसा नियम शास्त्र में देखा जाना है।

कीटाणु साक्षात् रूप से रोग के जनक नहीं है क्योंकि कीटाणु शरीर में प्रवेश करते ही रोग को उत्पन्न नहीं कर सकते किन्तु क्रमशः संचय प्रकोप आदि क्रम से दोषों में विकृति उत्पन्न करके रोग उत्पन्न करते हैं। दोष की विकृति भी कीटाणु स्वयं नहीं करते किन्तु कीटाणुओं के शरीर से जो विष निकलता है उस से दोष की विकृति होती है। शरीर में कीटाणु प्रवेश करने के बाद जब तक दोषों में रोग उत्पत्ति के अनुकूल विकृति नहीं होती

रोगस्याभिधीयते । तस्माद्दोषाणामेव रोगोत्पत्तौ साक्षात् कारणता कीटाणूनां दोषप्रकोपकविषोत्पादकताऽतस्तेषामन्यथासिद्धत्वमिति । किञ्च–शरीरे कीटाणुप्रवेशादेव सर्वत्र नियमेन रोगो नजायते, किन्तु यस्मिन् शरीरे कीटाणूनां वृद्धेरनुकूला परिस्थितिस्तत्रैव ते परिवृद्धा दोषप्रकोपण द्वारा रोगमुत्पादयितुं शक्नुवन्ति । यस्मिन्ननुकूलां परिस्थितिं न लभन्ते तत्र प्रविष्टास्ते विनश्यन्ति, तादृशस्तु पुरुषस्तद्

है उतने काल को रोग का अव्यक्ति काल कहते हैं । अतएव देखा जाता है कि रोगों की उत्पत्ति के लिये तो दुष्ट दोष ही कारण है उस दोष को विकृत करने वाला विष का उत्पादक कीटाणु रोग के लिये अन्यथासिद्ध है ।

और भी सोचना है, सब ही शरीरों में कीटाणु प्रवेश करके निश्चित रूप से रोग उत्पन्न नहीं कर सकते । किन्तु जिस शरीर में उनकी वृद्धि के अनुकूल परिस्थिति मिलती है वहां वृद्धि पाकर अपने विष द्वारा क्रमशः दोषों को कुपित करके रोग उत्पन्न कर सकते हैं । जिस शरीर में वृद्धि के अनुकूल परिस्थिति नहीं मिलती वहां कीटाणु जाकर मर जाता है । जिसके शरीरमें जिस रोग के कीटाणुओंकी वृद्धि नहीं होती वह मनुष्य उस रोगके लिये "क्षम"

रोगस्य क्रमोऽभिधीयते। अत्रापि दृश्यते कीटाणूनां वृद्धिकारिणी परिस्थितिर्न कीटाणुभिर्जन्यते किन्तु कारणान्तरेणैव। किन्तत् कारणान्तरमिति विचार्यमाणे दोषवैषम्यमेवोपलभ्यते। अस्यायमभिप्रायः—यस्मिन् शरीरे प्रागेव जाताद्दोषवैषम्याच्छरीरस्थितिः विकृता तत्रैव प्रक्लिन्नायामिव भूमौ कीटाणूनामभिवृद्धिः सम्भवति, स्वस्थे तु शरीरे प्रविष्टाः कीटा वह्नौ पतंगवत्तूर्णमेव विपद्यन्ते। एतदेवाभिहितमायुर्वेदे विषमज्वरसम्प्राप्तौ—दोषोऽल्पोऽहितसम्भूत........करोति

कहलाता है। यहां भी देखा जाता है कि कीटाणु की वृद्धि की अनुकूल परिस्थिति कीटाणु से उत्पन्न नहीं होती किन्तु कारणान्तर से ही होती है। उस कारणान्तर को ढूँढ़े तो दोषवैषम्य ही मालूम पड़ता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस शरीर में पहिले से ही उत्पन्न दोष वैषम्य से शरीर की परिस्थिति विकृत हो रही है क्लिन्न भूमि में कीटादि के समान उस शरीर में ही कीटाणु की वृद्धि हो सकती है। वह्निमें पतंगके तुल्य स्वस्थ शरीर में प्रविष्ट कीटाणु शीघ्र ही मर जाते हैं। इस बात को आयुर्वेद में विषम ज्वर की संप्राप्ति में इस तरह से लिखा है कि शरीर में अवस्थित, अल्पदोष अहित पदार्थ से सम्भूत होकर विषम ज्वर

विषमज्वरमिति प्राक् कुपितोऽल्पदोषोऽहितेन विषमज्वरकीटेन कारणान्तरेण वा संभूतः प्रवृद्धोऽधिकविकृत इत्यर्थः। तेन विज्ञायते विषमाणां दोषाणामेव कीटवृद्धिद्वारा रोगजननसामर्थ्यमस्ति नतु कीटाणूनां समदोषप्रकोपद्वारा रोगजनकत्वमिति। किञ्च कुपितदोषेण सह यथा रोगस्यान्वयव्यतिरेकौ दृश्येते (तत् सत्त्वेतत् सत्ताऽन्वयस्तदसत्त्वे तदसत्ता व्यतिरेकः) न तथा कीटाणुना द्रष्टुं शक्येते। तथा हि–बहुष्वेव रोगेषु रोगिषु च कीटाणुः कश्चिन्न दृश्यते,

---

को करते हैं। यहां ऐसा समझा जाता है कि पहिलेसे विकृत अल्पदोष अहित से अर्थात् विषम ज्वर के कीटाणु आदि से अधिक विकृत होकर विषम ज्वर को करते हैं। इससे समझा जाता है कि—विषम दोष तो कीटाणु की वृद्धि करके रोग उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु कीटाणु समदोष को विकृत करके रोग उत्पन्न नहीं कर सकते।

और भी—कुपित दोष के साथ जैसे रोग का अन्वय (तत् सत्त्वे तत्सत्ता) और व्यतिरेक (तदसत्त्वे तदसत्ता) देखने में आते हैं कीटाणुके साथ वैसे नहीं देखे जाते। क्योंकि बहुतसे रोग और रोगियों में कीटाणु नहीं मिलते तथा बहुतसे स्वस्थ शरीरों में

दृश्यन्ते तु स्वस्थेऽपि शरीरे बहुविधा रोगोत्पादकाः कीटाणव इति स्फुट एव रोगेण सह कीटाणूनामन्वयव्यतिरेकयोर्व्यभिचार इति । किञ्च, येनैव कीटाणुनाऽन्येद्युष्को ज्वरो जायते न तेनैव तृतीयकचतुर्थकौ । एतेषां सर्वेषामेव ज्वराणां भिन्ना एव कीटाणवः किन्तु सततकादीनां तृतीयकादिरूपेण चातुर्थकादीनां वेतररूपेण परिवृत्तिः प्रायशोऽवलोक्यते, तत्रापि कीटाणामेव कारणत्वे ज्वरपरिवृत्तिर्न सम्भवति । किञ्च, कीटाणुनाशाय प्रयुक्तं विषं कीटानेव नाशयिष्यति रोगा-

---

भी नानाविध रोगोत्पादक कीटाणु देखने में आते हैं अतएव रोग के साथ कीटाणु का अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार स्पष्ट मालूम पड़ता है ।

और भी—जिस कीटाणु से अन्येद्युष्क ज्वर होता है उसीसे तृतीयक या चतुर्थक ज्वर नहीं हो सकते । इन सब विषम ज्वरों के कीटाणु भिन्न भिन्न हैं फिर भी सततकादि ज्वर तृतीयकादि रूप में चतुर्थकादि ज्वर सततकादि रूप में हमेशा परिवर्तित होते हैं ऐसा देखा जाता है । यहाँ भी केवल कीटों को कारण कहें तो एक ज्वर दूसरे ज्वर में परिवर्तित नहीं हो सकता ।

और भी—कीटाणुओं को मारने के लिये जो विष प्रयुक्त होता

न्तरं वा जनयिष्यतीति नियमकारणं न दृश्यते, दृश्यते तु प्रयुक्तं विषं कीटान् विनाश्याविनाश्य वा रोगान्तरं प्रायशो जनयतीति। किञ्च—कीटकारणत्ववादिभिर्यावद्रोगि-शरीरे विशिष्टः कीटो नोपलभ्यते तावत्तत्र कस्य नाशाय भेषजं प्रयुज्यत इति तैरपि वक्तुं न शक्यते। दोषकारणता-वादिभिस्तु प्रवृद्धदोषलक्षणमुपलभ्य तन्नाशाय भेषजं प्रयोक्तुं शक्यते। किञ्च--कीटाणुनाशाय प्रयुक्तं विषं रोगिणो-

---

है वह कीटाणु को ही मारेगा या अन्य रोग उत्पन्न करेगा इसका निश्चय नहीं होता है। देखा जाता है कि कीटाणुनाश के लिये प्रयुक्त विष कीटाणु का नाश करके या नाश न करके भी अन्य रोग उत्पन्न करता है।

और भी—जो चिकित्सक कीटाणु को ही रोग का कारण मानते हैं वह जब तक रोगी के शरीर में विशिष्ट कीटाणु को नहीं देखते तब तक किसको मारने के लिये औषध प्रयोग करते हैं इसको वह स्वयं भी नहीं जानते हैं। दोष को कारण मानने वाले तो बढ़े हुए दोष के लक्षण को देखकर औषध प्रयोग कर सकते हैं।

और भी—कीटाणु के नाश के लिये प्रयुक्त विष रोगी का

ऽहितं कथं न साधयिष्यतीति वाच्यमत्यल्पप्राणानां कीटाणूनां यद्विषं मारकं न तन्महाप्राणानां मनुष्याणामिति चेदेकः कीटाणुर्यावतीं मात्रां विषस्य पीत्वा म्रियते रोगिमनुष्यस्तु तदपेक्षया लक्षलक्षगुणं विषं पीत्वा यदि न म्रियते मृतकल्पो भवतीति सर्वैरेव बहुशोऽनुभूयते। किञ्च—रोगकारणं चेत् कीटाणुस्तर्हि कीदृशं कारणमिति वाच्यं, कर्तृत्वेनाभिमतस्य समवायित्वं न युज्यते रोगावस्थायामपि नियतानुषङ्गिणो निमित्तमात्रत्वमपि नैव वक्तुं शक्यते।

अहित क्यों नहीं करेगा इसको भी बताना चाहिये। यदि कहो कि "अल्पप्राण कीटाणु के लिये जो विष मारक होगा वह विष महाप्राण मनुष्य का मारक नहीं हो सकता तो कहना पड़ेगा कि एक कीटाणु विष की जितनी मात्रा को सेवन करके मरता है उससे लक्ष लक्ष गुणा विष जो एक मात्रा औषध या इन्जेंक्सन से होता है सेवन करके रोगी मनुष्य यदि सम्पूर्ण नहीं मरता है तो मृत कल्प तो जरूर होता है यह तो सब को अनुभूत है।

और भी—कीटाणु यदि रोग का कारण है तो कैसा कारण है यह भी बताना चाहिये। कीटाणु को रोगकर्ता कहो तो कर्ता समवायीकारण नहीं हो सकता अथच रोगावस्था में सतत

नोभयकारणत्वमपि दोषाणामिव, कीटाणुनाशादनन्तरमपि तद्विषेण रोगस्य विद्यमानतादर्शनात्। अनसमवायिकारणत्वं द्रव्यभूतानां कीटाणां तदसम्भवादेव सर्वविधकारणताभावान्न कीटाणुः कारणं रोगाणामिति।

ये खलु दोषा दोषकारणतायामुद्भावितास्तेषां समाधानमभिधीयते—प्रमाणसिद्धानां पदार्थानां स्वेन्द्रियाणामिवाप्रत्यक्षत्वेऽपि नाभावः परिकल्पयितुं शक्यते।

अनुषंगी (सर्वदा साथ रहने वाला) कीटाणु को केवल निमित्त कारण भी नहीं कह सकते। दोष जैसे समवायी और निमित्त उभयविध कारण हैं कीटाणु ऐसे उभयविध कारण भी नहीं होसकते हैं क्योंकि कीटाणु के नाश के बाद भी जब तक उसका विष विद्यमान रहता है तब तक रोग की विद्यमानता देखी जाती है। द्रव्यस्वरूप कीट असमवायीकारण तो हो नहीं सकता। इस प्रकार से सर्वविधकारणता से विहीन कीटाणु रोग के कारण नहीं हो सकते।

दोषों को कारण मानने में जो जो दोष दिखाये गये हैं उनका समाधान किया जाता है।

जो पदार्थ अपनी इन्द्रिय जैसा—प्रमाणसिद्ध है उसका

यस्य दोषस्य यानि लक्षणानि शास्त्रकृद्भिरुक्तानि तेषां लक्षणानां दर्शनात्तद्दोषविकृतिस्तथा तद्दोष-शमकानां शास्त्रवर्णितानां सम्यगुपयोगाद्दोषशान्तौ तल्लिंगा-नामप्युपशमः सर्वैरेव सर्वदा दृश्यत इति रोगकारणस्य दोषस्य बलवत्प्रमाणसिद्धस्य स्वचक्षुष इव प्रत्यक्षाभावेऽपि नापलापः सम्भवति । नवा वातादयः सर्वथैवाप्रत्यक्षा इति प्रागेव प्रतिपादितम् । यत्तु वातादिसमानगुणेन वातादीनां

प्रत्यक्ष न होने से ही उसके अभाव की कल्पना नहीं हो सकती। जिस दोष के जो जो लक्षण शास्त्रकारों ने लिखे हैं उन लक्षणों को देखकर उस दोष की विकृति निश्चय की जाती है तथा उस दोष की शान्ति के लिये शास्त्रों में जिन द्रव्यों का उल्लेख हैं उनके सम्यक् उपयोग से दोष की शान्ति और लक्षणों का उप-शम होता है इसको सब ही सर्वदा देखते हैं अतएव जैसा बल-वान् प्रमाण से सिद्ध अपने चक्षु के प्रत्यक्ष न होने से भी उसका अभाव सिद्ध नहीं होता ऐसे ही बलवत् प्रमाणसिद्ध दोष का प्रत्यक्ष होने से भी उसको अस्वीकार करना असम्भव है । वातादि दोष सर्वथा अप्रत्यक्ष भी नहीं है इस बातको पहिले ही सिद्ध किया है। वातादि के समानगुण वाले के उपयोग से वातादि की वृद्धि होगी

वृद्धिः कफादीनां ह्रासो वा भविष्यतीति नियमो नास्तीति शंकते तदपि न युक्तम्—न केनचित् कदाचित् एकगुणमेव द्रव्यमतिसेव्यते सेव्यते चेत् तत्समानगुणवतां वृद्धिर्विरुद्ध-गुणवतां ह्रासश्चेति द्वयमेव भवति स्वस्थशरीरे। अस्व-स्थशरीरे तु वृद्धदोषशान्तये तद्विरुद्धं यद् द्रव्यं प्रयुज्य-ते तद्विरुद्धगुणवतो दोषस्य शान्तेः प्राक् स्वसमानगुणं न वर्धयति। "विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभेति" न्यायात्। वृद्धदोषस्य समत्वप्राप्तेरनन्तरमपि यदि तद्

या कफादि का ह्रास होगा इसका निश्चय नहीं होसकता। इस प्रकार शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी मनुष्य केवल एक गुण विशिष्ट पदार्थ का कभी अत्युपयोग नहीं करता, यदि करता है तो उसके समान गुण वालों की वृद्धि और विरुद्ध गुण वालों का ह्रास ये दोनों ही स्वस्थ शरीर में अवश्य होते हैं अस्वस्थशरीर में वृद्ध दोष की शान्ति के लिये जिस द्रव्य का प्रयोग किया जाता है "विरोधी का प्रतिरोध न करके प्रतिष्ठा दुर्लभ है" इस नियम के अनुसार वह द्रव्य प्रथम अपने विरोधी दोष को शान्त न करके समान गुण वाले को नहीं बढ़ाता है। विरुद्ध दोषकी शान्तिके पश्चात् भी यदि उसका उपयोग करते रहें तो वह अपने समान

विरुद्धं द्रव्यमुपयुज्यते ततो द्रव्यसमानगुणस्य वृद्धिस्तद्विपरीतगुणानां च ह्रासो जायत इति प्रत्यक्षमेव।

परस्परविरुद्धगुणानां वातादीनामेकत्रावस्थानमेकरोगारम्भकत्वं वा न सम्भवति विरुद्धानां वातानलजलानामिव परस्परं नाशकत्वादिति यदाशंकितं तदपि न युक्तम्। यतो नहि वातादयः परस्परोपघातका न वा जलानलवायवः। एषां मिलित्वैवावस्थानदर्शनात् परस्परसहायकत्वाच्च। यथा साधारणे सलिले जलानलानिलानां मिलित्वैवावस्थानम्।

गुण को भी अवश्य बढ़ाता है और अपने विरुद्ध गुण को भी अवश्य घटाता है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है।

वायु अग्नि और जल की तरह वातादि परस्पर विरुद्धगुणविशिष्ट होने से एक दूसरे के नाशक ही हो सकते हैं तीनों मिलकर शरीर धारण या रोगोत्पादन नहीं कर सकते हैं, इस प्रकार की जो शंका की गई वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वातादि भी परस्पर के घातक नहीं हैं और न वायु अग्नि जल परस्पर के घातक हैं। चूँकि देखा जाता है कि ये परस्पर मिलित होकर रहते हैं, तथा एक दूसरे के सहायक भी हैं। साधारण जल में भी जल वायु और अग्नि परस्पर मिलित होकर रहते हैं। क्योंकि जल में यदि अग्नि न

तथाहि-जले यदि वह्निर्नस्यादत्यल्पो वा स्यात् तदा तारल्यं विहाय घनं सम्पद्येत जलं, यदि तत्र वायुर्न स्यात् तत्रत्य-जीवानां श्वासग्रहणं न सम्भवेत्। तस्मात् साधारणे सलिले जलानलानिलानां मिलितानामेकत्रावस्थानं दृश्यते। जलमेतादृशं महति कटाहे संस्थाप्य तत्र यदि जीविताः मत्स्याः संरच्यन्ते ते सुखमेव जीवन्ति। तदानीं यदि कटाहनिम्ने वह्निज्वाला प्रयुज्यते ततो यथा यथा जले वह्निमात्रा वर्धते तथा तथा मत्स्यानां व्याकुलता वर्धते, एवमतिवर्धिते तापे तेषां मृत्युरेव संघटते। तापापसारणे कृतेऽपि तथैव परिणामः स्यात्, एवं जलस्थवा-

---

होता या बहुत कम होता तो जल अपनी तरलता को छोड़ कर कठोर वर्फ, बन जाता। जल में यदि वायु नहीं होती तो जलचर प्राणियोंको श्वास ग्रहण सम्भव नहीं होता अतएव साधारणजल में जल, वायु और अग्नि मिलकर रहते हैं ऐसा देखा जाता है।

ऐसे जल को एक बड़ी कढ़ाई में रखकर यदि उसमें जीवित मत्स्यको छोड़ दिया जावे तो मत्स्य सुख से जीवित रह सकता है। उस समय यदि कढ़ाई के नीचे अग्नि जलादी जाय तो जैसे जैसे जल में अग्नि की मात्रा बढ़ेगी अर्थात् ताप बढ़ेगा वैसे वैसे मत्स्यों की व्याकुलता बढ़ेगी। ताप बहुत बढ़ जानेसे उनकी मृत्यु हो जाती

योर्मात्राया न्यूनातिरेकादपि जलचराणां व्याकुलता मृत्युर्वा संजायते। अपरं च, स्थूलजलस्य यावती मात्रा मृत्तिकात इष्टकजननी स्यात्ततोऽधिकं जलं क्लेदकरमल्पं वा शैथिल्यसम्पादकं स्यात्। योग्या मात्रा जलस्य वह्निसंयोगो वा मृदं न नाशयति किन्तु जनयतीष्टकमिति प्रत्यक्षसिद्धं सर्वेषामेव। तस्मादवगम्यते जलानिलानलानां यथा परस्पर-विरोधिता तथैव परस्परानुग्रहोऽपि विद्यत एव। एवं दोषा-णामपि न केवलं विरोधिता किन्तु परस्परानुग्रहः परस्परा-

है जल से तापको घटानेका भी वही परिणाम होता है। इस प्रकार जलस्थ वायु की मात्रा बढ़ने से या घटने से भी जलचर प्राणी की व्याकुलता या मृत्यु होती है। और भी देखिये, स्थूल जल की जितनी मात्रा मृत्तिका से ईंट बनाने के लिये आवश्यक है उससे अधिक जल मृत्तिका को कीचड़ बना देता है। अल्प जल से भी मृत्तिका शिथिल (भुरभुरी) रह जाती है। जल की योग्य मात्रा अथवा अग्नि संयोग मृत्तिका का नाश न करके उसको ईंट बना देता है, यह तो सबका प्रत्यक्षसिद्ध है। इससे समझा जाता है कि जलवायु आदि की जैसी कदाचित विरोधिता है ऐसा परस्पर अनुग्रह भी है। इस प्रकार दोषों की परस्पर विरोधिता हो

भिभावकत्वं चापि विद्यते, तस्मादेव सम्भूयावस्थानं सम्भूयैककार्यजनकत्वं च न विरुध्यते किन्तु यथावश्यकमानेनावस्थितास्ते वातादयः, स्थूलजले मिलिता जलानलानिला मत्स्यानामिव देहिनां सुखदायका भवन्ति। वैषम्यमाप्ताः समक्षीणाः समवृद्धा वा दोषा अतितप्तातिशीता आपो मत्स्यानामिवात्यल्पातिमात्रा आप इष्टकानामिव विकृतिकृतः संजायन्त इति।

यत्तु सततदोषवैषम्यात्सततरोगशंका तत्र यावद् वैषम्यं

नहीं है किन्तु परस्पर अनुग्रह तथा परस्पर अभिभावकता भी विद्यमान है। इसलिए मिलकर रहना या मिलकर एक कार्य करना विरुद्ध (असम्भव) नहीं होता किन्तु स्थूल जल में यथायोग्य मात्रा में अवस्थित वायु, अग्नि और जल जैसे उसमें रहने वाले मत्स्यों के लिये सुखदायक हैं, ऐसे ही यथायोग्य मात्रा में शरीर में रहने वाले वात पित्त और कफ आरोग्यरूप सुख देने वाले हैं किन्तु वैषम्यप्राप्त या समक्षीण अथवा समवृद्ध दोष शरीर के लिये ऐसे ही विकृतिकारी हैं जैसे अति उष्ण या अति शीत जल मत्स्यों के लिये हैं, अथवा मात्रा से अधिक या अल्प जल इटों के लिये है।

प्रतिकूलवेदनीयं न भवति तावद् वैषम्ये स्वास्थ्यसंज्ञा उपचारादिति मन्तव्यम् । न केवलं दोषवैषम्यमेव व्याधि-रुच्यते, किन्तु कुपितदोषदूष्ययोर्विशिष्टमिलनरूप संप्राप्तितो व्याधिरुत्पद्यत इत्यपि स्मर्तव्यम् । जडविज्ञानेऽध्या-त्मविज्ञाने च निष्णातानामृषीणामज्ञताऽल्पता विचारकैर्न वक्तुं शक्यते । तस्माद्दोषाणां रोगारोग्यकारणत्वपक्षे नास्ति कश्चिद्दोषः

दोषों में सर्वदा ही कुछ न कुछ वैषम्य रहने के कारण मनुष्य को सर्वदा ही रोगी कहना पड़ता है इत्यादि शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि दोषों के जितने वैषम्य से प्रतिकूलवेदनीय अर्थात् दुःख अनुभव नहीं होता उतने वैषम्य में उपचार से साम्यसंज्ञा की जाती है । केवल दोषों की विषमता को ही व्याधि भी नहीं कहते किन्तु विषम दोष और दूष्यों के विशिष्ट मिलनरूप सम्प्राप्ति से व्याधि उत्पन्न होती है इसको भी स्मरण करना चाहिये । जड़विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों में पारंगत ऋषियों की अज्ञता या अल्प-ज्ञता कोई भी विचारक नहीं कह सकते । अतएव दोषों को रोगका कारण कहने में कुछ प्रमाणसिद्ध दोष नहीं देखा जाता है किन्तु कीटाणु तो रोग के कारण ही सिद्ध नहीं हो सकते । विचार

प्रामाणिकः, किन्तु कीटाणूनां रोगकारणत्वमेव न सिध्यति, सिध्यति तु घटं प्रति कुलालजनकस्येव रोगं प्रति कीटाणूनामन्यथासिद्धत्वमिति दोषा एव रोगकारणं कीटाणुश्च रोगकारणस्य कारणत्वेऽपि न रोगकारणमिति स्थितम् ।

यत्तु विषाणामिव कीटाणूनामागन्तुककारणे समावेशकल्पनं तदपि न संगच्छते चरकादिविरोधात् । तथाहि—चरकेणोक्तमा 'गन्तुर्हि व्यथापूर्वं जायते पश्चाद्दोषैरनुबध्यते ।' इति । दोषजानां समुत्पत्तिर्दोषाणां संचयप्रकोपादिक्रमेण सुश्रुतेन प्रदर्शिता,

---

करने से मालूम पड़ता है कि कुलाल जैसे घट के लिये अन्यथासिद्ध है ऐसे ही कीटाणु भी रोग के लिये अन्यथा सिद्ध है । अतएव सिद्ध हुआ कि दोष ही रोग का मुख्य कारण है किन्तु कीटाणु यद्यपि अपने विष से दोष को प्रकुपित करने से दोष-दुष्टि का कारण है तथापि रोग का कारण नहीं है ।

कीटाणु को आगन्तुक कारण में समावेश करने की कल्पना भी संगत नहीं है क्योंकि ऐसा करने से चरकादि आर्षशास्त्रों से विरोध होता है जैसा कि चरक में लिखा है कि 'आगन्तुक रोग प्रथम उत्पन्न होकर पश्चात् दोष से सम्बद्ध होते है ।' दोषज रोग की उत्पत्ति दोषों के संचय प्रकोपादि क्रम से

तस्मादवगम्यते कारणेन संपर्कादेव तावतैव कारणेन यत्र रोगोत्पत्तिस्ततस्तावतैव च कारणेन दोषाणामपि प्रकोपो यत्र संजायते तस्यैवागन्तुकत्वं शास्त्रकृतामभीष्टम्, किन्तु यत्र विषादयो दुर्बलत्वाद्रोगजननेऽसमर्था दोषाणां संचयादिकारका भवन्ति, संचयप्रकोपप्रसरादिक्रमेण च रोगस्योत्पत्तिः संजायते न तस्यागन्तुकसंज्ञा अपितु दोषजसंज्ञैव तस्येति। अतएव मदात्ययस्य नागन्तुकत्वं शास्त्रकृद्भिर्वर्णितम्।

किं च सर्वाण्येव कुष्ठानि 'सवातानि' 'सक्रिमीणि च भवंतीति,

सुश्रुत में वर्णित हुई है। इससे समझा जाता है कि कारण से सम्बन्ध होते ही केवल उतने कारण से ही जहां रोग की उत्पत्ति होती है और उतने ही कारण से दोष का प्रकोप भी होता है उसको ही आगन्तुक कहना शास्त्रकारों को अभीष्ट है, किन्तु जहां विषादि दुर्बल होने के कारण तत्काल रोग उत्पन्न नहीं कर सकते किन्तु दोष के संचयादि करने वाले होते हैं फिर दोषों के प्रकोपादि से रोगों की उत्पत्ति होती है वहां रोग को आगन्तुक नाम से न मान करके दोषज नाम से माना जाता है। इसीलिए मदात्यय रोग को किसी भी शास्त्रकार ने आगन्तुक रोग नहीं माना है।

षट्ते कुष्ठैककर्माणः, सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः, प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शात्.........कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरमि"त्यादि शास्त्रवचनाद्युक्तितर्कादिभिश्च प्राचीनानामपि कीटाणुपरिज्ञानमासीदिति विज्ञायते, तथापि कुष्ठशोषादिरोगाणां दोषज-रोगत्वेन वर्णनात् कीटाणुजानां शोषकुष्ठाभिष्यन्दादीनां रोगाणामागन्तुकत्वकल्पनमायुर्वेदशास्त्रविरुद्धमाभाति।

और भी "सबही कुष्ठोंमें वात पित्त कफ और कृमि होते हैं।" "वे कृमि केवल कुष्ठ को ही उत्पन्न करते हैं इनमें से कुछ इतने सूक्ष्म हैं कि साधारण चक्षु से दिखाई ही नहीं देते, प्रसंग (मैथुन) गात्रस्पर्श निःश्वास सहभोजन आदि कारणों से कुष्ठ,ज्वर, यक्ष्मा नेत्राभिष्यन्द और औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे में संक्रामित होते हैं। इन शास्त्रवचनों से तथा युक्तितर्कादि से मालूम पड़ता है कि प्राचीन ऋषियों को भी कीटाणु का ज्ञान था, फिर भी ज्वर कुष्ठ आदि को दोषज रोग करके वर्णन करने से तथा यक्ष्मा रोग को भी दोषज रोग करके वर्णन करने से कीटाणुजन्य यक्ष्मा कुष्ठ अभिष्यन्द आदि रोग को आगन्तुक कहना आयुर्वेदविरुद्ध मालूम पड़ता है।

किं च यावान् कीटाणुः शरीरं प्रविशति न तावानेव रोगं जनयितुं समर्थः किन्तु दोषवैषम्यविकृते शरीरे प्रविष्टास्ते यदा स्वाश्रयघातकदोषाणां साहायकमासाद्य प्रवृद्धा भवन्ति तदैव दोषप्रकोपं सम्पाद्य रोगजननसमर्था भवन्ति तस्मादत्र प्रागेव दोषकोपः पश्चाद्रोगोत्पत्तिरिति नागन्तुक-लक्षणमत्र घटते।

किंचागन्तुकरोगेषु कारणजन्यमेकविधमेव लक्षणं सर्वेषु रोगेषु संजायत इति विषमुष्टिशृङ्गिका-

---

और भी—जितने कीटाणु शरीर में प्रवेश करते हैं उतने ही रोग उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते किन्तु दोष की विषमता से जो शरीर विकृत हो रहा है ऐसे शरीर में कीटाणु प्रविष्ट होकर जब स्वाश्रयघातक दोषों से सहायता प्राप्त करके बहुत बढ़ जाते हैं तब ही दोषों का प्रकोप (अपने विष से) सम्पादित करके रोगोत्पादन में समर्थ होते हैं। अतएव यहां तो पहिले दोष का कोप और पीछे रोग की उत्पत्ति होती है जिससे आगन्तुक रोग के लक्षण इसमें लागू नहीं होते।

और भी—आगन्तुक रोग में कारणजन्य एकजातीय लक्षण सब रोगियों में पाये जाते हैं जैसा कि कुचिला विष, मीठा

हिफेनविषादिजुष्टेषु सर्वत्र दृश्यते न तु कस्मिंचिद्रोगिणि वातिकं, कुत्रचित् पैत्तिकं, श्लैष्मिकं वा कस्मिँश्चिदिति। युक्तिरपि प्रतिपादयति कारणसाम्याल्लक्षणसाम्यमुचितमिति। किन्तु दृष्टकीटेषु रोगेषु सन्निपातज्वरशोषकुष्ठाभिष्यन्दादिषु, एकजातीये रोगे सर्वत्रैकविधं लक्षणं न दृश्यते, दृश्यते तु क्वचिद्वातिकं, क्वचित्पैत्तिकं, श्लैष्मिकं च लक्षणं कुत्रचिदिति, तेन विज्ञायते नैतेषु रोगेषु शरीरान्तरात् संक्रान्ताः कीटाणव एव साक्षाद्रोगजनकाः किन्तु प्राक् कुपिता

तेलिया, अफीम आदि विषों से पीड़ित रोगी में सर्वत्र प्रत्यक्षसिद्ध है, किंतु किसी रोगीमें वातिक, किसी में पैत्तिक या कहीं श्लैष्मिक लक्षण नहीं होते। युक्ति भी बताती है कि समान कारण से उत्पन्न रोगों में लक्षण भी समान ही होना संगत है। अथच जिन रोगों में कीटाणु प्रत्यक्ष भी हैं ऐसे सन्निपातज्वर (आन्त्रिक ज्वर न्युमोनियां आदि) यक्ष्मा कुष्ठ, अभिष्यन्द आदि एक एक जातीय रोग से पीड़ित मनुष्यों में सर्वत्र एक प्रकार के लक्षण नहीं मालूम पड़ते किन्तु कहीं वातिक, कहीं पैत्तिक, और कहीं श्लैष्मिक लक्षण देखे जाते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि इन रोगों में शरीरान्तर से आगत कीटाणु ही साक्षात् रोग कारण

दोषाः कीटाणुसंसर्गादधिकतरं कुपिता रोगविशेषं जनयन्ति, तत्रापि कीटाणव आहारविहाराश्च मिलिता यत्र यस्य दोषस्य यादृशीं विकृतिं जनयन्ति तत्र तद्दोषानुरूपाणि लक्षणानि संजायन्ते। तत एव मैलेरियाख्यविषमज्वरशोषकुष्ठादिषु दृष्टकीटेषु रोगेषु विभिन्नदोषजानि लक्षणान्येव दृश्यन्ते नत्वेकविधकीटाणुजन्यान्येकविधानि लक्षणानीति। तस्माद् दृष्टकीटाणामपि रोगाणां दोषजत्वमेव

नहीं है किन्तु पहले से कुपितदोष कीटाणु विष से अधिकतर कुपित होकर रोग विशेष को उत्पन्न करते हैं। बाहर से आये हुये कीटाणु तथा विरुद्ध आहार-विहारादि मिलित होकर जहां जिस दोष की विकृति कर देते हैं वहां उस दोष के अनुरूप लक्षण उत्पन्न होते हैं इसीलिए मैलेरिया नामक विषम ज्वर में (यह भी आयुर्वेद में दोषज रोग में वर्णित हुआ है) शोष, कुष्ठ आदि जिन जिन रोगों में कीटाणु प्रत्यक्ष है उनमें भी भिन्न भिन्न दोषों के लक्षण ही देखने में आते हैं किन्तु एकजातीय कीटाणु से उत्पन्न रोग में सर्वत्र एक प्रकार के लक्षण देखने में नहीं आते। अतएव जिन रोगोंमें कीटाणु प्रत्यक्ष हैं वे भी दोषज ही रोग हैं, आगन्तुक नहीं, क्योंकि देखा जाता है कि वहां भी दोष ही साक्षात्कारण है।

नागन्तुकत्वं तत्रापि दोषस्यैव साक्षात्तथा रोगकारणत्वदर्शनात्। अतएव साधूक्तमायुर्वेदे—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।
तत् प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्॥ इति॥

एतेनावगम्यते यथा रात्रिजागरणादयो दोषप्रकोपद्वारा रोगं जनयन्तोऽन्यथासिद्धा अपि परम्परया रोगकारणसंज्ञाभाजो भवन्ति, एवं कीटाणवोऽपि दोषप्रकोपकत्वात् परम्परया रोगकारणसंज्ञाभाजो भवन्ति, साक्षाद्रोगजन-

---

इसलिये आयुर्वेद में ठीक ही लिखा है कि "सब ही रोगों के कारण कुपित मल (दोष) हैं किन्तु उन दोषों के प्रकोप का कारण नानाविध अहित सेवन को माना जाता है। इससे समझा जाता है कि जैसे रात्रिजागरणादि कारण दोषप्रकोपद्वारा रोगजनक होते हुये भी रोग के कारण न होकर अन्यथासिद्ध हैं तथापि परम्परासम्बन्ध से रोग के कारण कहलाते हैं ऐसे ही कीटाणु भी अपने विष से दोषप्रकोपक होने से परम्परासम्बन्ध से रोग के कारण कहला सकते हैं। रोगों के साक्षात् कारण तो वातादि दोष ही हैं। अतएव आयुर्वेदाचार्यों ने सत्य ही लिखा है कि दोष के विना रोग नहीं होता। इस प्रकार आयुर्वेद में

कास्तु वातादिदोषा एव। तस्मात् सत्यमेवाचार्येणाभिहितं "नास्ति रोगो विना दोषैः" इति दोषाणामेव रोगकारणत्वं प्रतिपादितमायुर्वेदे।

यद्यप्येवं सूक्ष्मविचारे दोषाणामेव रोगकारणत्वं कीटाणूनां चान्यथासिद्धत्वं सिध्यति तथापि चिकित्सोपयोगिविशेषज्ञानाय कीटाणूनां रोगकारणता सर्वथा प्रत्याख्यातुं न शक्यते। न वा कीटाणूनामुपेक्षापि भिषगातुरहितकरी भवतीति। कीटाणूनां सर्वथाऽकारणत्वे गात्रसंस्पर्शनिःश्वासादिभिरेव संक्रामकरोगाणां संक्रमणं

केवल दोषों को ही रोग का कारण माना है।

यद्यपि इस प्रकार सूक्ष्म विचार से दोष ही रोग के कारण तथा कीटाणु अन्यथासिद्ध हैं ऐसा सिद्ध होता है तथापि चिकित्सोपयोगी विशेष ज्ञान के लिये कीटाणुओं की रोगकारणता सर्वथा प्रत्याख्यानयोग्य नहीं है। कीटाणु की उपेक्षा भी चिकित्सक और रोगी के लिये हितकर नहीं है। कीटाणु यदि किसी प्रकार कारण ही नहीं होता तो केवल गात्रसंस्पर्श अथवा निःश्वासादि से संक्रामक रोगों का संक्रमण नहीं हो सकता, इसको पहिले ही वर्णन किया है। विरुद्ध-भोजन रात्रिजागरणादि जैसे दोष के

न सम्भवतीति प्रागभिहितम्। यदि विरुद्धभोजनरात्रि-जागरणादिवद्दोषप्रकोपकाः कीटाणवो व्याधावन्यथासिद्धा इति। तत्रापि शंक्यते कथं नियतरोगकीटादन्यस्मिन् संक्रान्तात् स एव रोगो जायते, तथा बहुषु मनुष्येषु प्रविष्टा यक्ष्मकीटा यक्ष्माणमेव जनयन्ति नेतररोगान्। नहि विषम-भोजनादिभिर्बहुमनुष्यशरीरे कुपिता वातादयस्तेषु एक-विधमेव रोगं जनयन्ति किन्तु विभिन्नानेव रोगान् कुर्वन्तीति प्रत्यक्षसिद्धमेव। नवा विरुद्धभोजनादयोऽपि व्याधावन्यथा-

---

प्रकोपक हैं किन्तु व्याधि के लिये अन्यथासिद्ध हैं ऐसे ही कीटाणु भी यदि दोषप्रकोपक अथच व्याधि के लिये अन्यथा-सिद्ध होता तो फिर सन्देह होगा कि—एक रोग के कीटाणु दूसरे शरीर में जाकर उसी रोग को क्यों उत्पन्न करते हैं? तथा बहु मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट यक्ष्मा कीटाणु सर्वत्र केवल यक्ष्मा रोग को ही क्यों उत्पन्न करते हैं और अन्य रोगों को क्यों नहीं करते। विरुद्धभोजनादि कारण से अनेक मनुष्यों के शरीर में वातादि दोष प्रकुपित होकर सब को एक ही रोग उत्पन्न नहीं कर सकते किन्तु भिन्न भिन्न शरीर में भिन्न २ रोग को ही उत्पन्न करते हैं यह तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है। विरुद्धभोजनादि भी व्याधि

सिद्धास्तथात्वे तेषां निदानसंज्ञैव शास्त्रवर्णिता न स्यात्। तस्माद् यथा भक्षिता मृत्तिका दोषप्रकोपद्वारा पाण्डुरोगं जनयन्ती रोगहेतुर्जायते तथा कीटाणुरपि रोगहेतुर्भवितुमर्हति। किन्तु भक्षिता मृत्तिका प्रकृतिस्थमपि दोषं विकृत्य रोगं जनयति, कीटाणुस्तु दोषवैषम्यविकृते शरीरे परिवृद्धिं प्राप्य दोषं कोपयति। किंच—मृत्तिका यथा स्वयमेव दोषं प्रकोपयति तथा कीटाणुर्न स्वयं, किन्तु कीटाणुनिर्मितं विषमेव दोषं प्रकोपयतीति कुलालजनकवदन्यथासिद्धः

के लिये अन्यथासिद्ध नहीं है, ऐसा होता तो इनकी रोग-निदान संज्ञा जो शास्त्रों में वर्णित है, नहीं होसकती थी। अतएव भक्षित मृत्तिका जैसे दोषों को कुपित करके उन दोषों से पाण्डु रोग को ही उत्पन्न करती है इसलिये रोग का हेतु कहलाती है। कीटाणु भी ऐसे ही रोग के हेतु हो सकते हैं किन्तु भक्षित मृत्तिका प्रकृतिस्थ दोषों को भी विकृत करके रोग को उत्पन्न करती है किन्तु कीटाणु ऐसा नहीं कर सकता। दोष की विषमता से जो शरीर प्रथम से ही दुष्ट है उसमें कीटाणु प्रविष्ट होकर वहां अनुकूल परिस्थिति को लाभ करके जब बहुसंख्या में बढ़ जाता है तब ही दोष को कुपित करके रोग उत्पन्न करता है।

कीटाणुरिति कथयितुं शक्यते। तत्रेदं चिन्त्यम्—यथा वर्ति-तैलाभ्यां प्रतिक्षणं नवां नवां शिखां जनयन्नग्निः शिखाया एव निमित्तकारणं प्रदीपं प्रति स एवान्यथासिद्धस्तथापि वह्निनाशादवस्थिताभ्यामपि वर्तितैलाभ्यां नवा शिखा न-जन्यते प्रागुत्पन्नाश्चाशु विनाशिन्यस्तूर्णमेव विनाशं यान्ति ततः प्रदीपोपादानभूतायाः शिखाया नाशात् प्रदीपनाशः

और भी—मृत्तिका जैसे स्वयं दोष को प्रकुपित करती है वैसे कीटाणु स्वयं दोष को प्रकुपित नहीं करते किन्तु कीटाणु जिस विष को उत्पन्न करता है वह विष ही दोष को कुपित करता है, जिससे कीटाणु को कुम्भकारके पिताके समान अन्यथासिद्ध कह सकते हैं।

इस पर सोचने की बात यह है कि जैसे वर्ति और तैल से प्रतिक्षण में नई नई शिखा को उत्पन्न करने वाला अग्नि शिखा के लिये निमित्तकारण होकर भी प्रदीप के लिये अन्यथासिद्ध है तथापि वह्निनाश के बाद वर्ति और तैल विद्यमान रहे तो भी उनसे नयी शिखा की उत्पत्ति नहीं होती और पहिले उत्पन्न शिखा भी आशुविनाशी होने के कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाती है इसलिये प्रदीप के उपादानकारण

सम्पद्यते। एवं प्रतिक्षणजायमानानां कारणानां कारणमपि वस्तुगत्या कार्यकारणं सम्पद्यते तथा कीटाणुरपि रोगारम्भककुपितदोषकारणं प्रतिक्षणजायमानं विषमुत्पादयन् कारणतां लभते। मृते च कीटाणौ नूतनं विषं नोत्पद्यते प्राक् संजातविषस्य नाशाद् दोषस्य कोपः क्षिप्रं प्रशाम्यति ततो व्याधिरपि विनश्यति। किन्तु यावत् कीटाणुर्विषमुत्पादयति तावत्तेन दोषकोपवृद्धिस्ततो रोगवृद्धिरिति

शिखाओं के नाश से प्रदीप का नाश हो जाता है इस प्रकार से प्रतिक्षण जायमान (उत्पन्न होने वाला) कारण का कारण भी वस्तुतः कार्य के कारण जैसा बन जाता है ऐसे ही कीटाणु भी रोग के आरम्भक (समवायीकारण) कुपित दोषों से मिलकर उनको अधिक र कुपित करनेवाले प्रतिक्षण उत्पत्तिशील विष को उत्पन्न करते हुये कारणता को प्राप्त करते हैं। कीटाणु मर जाने के बाद नूतन विष उत्पन्न नहीं होता, पूर्व संजात विष के नाश से दोष का प्रकोप शीघ्र ही शान्त होता है जिस से व्याधि भी विनष्ट होती है, किन्तु जब तक कीटाणु शरीर के अन्दर रह कर विष को उत्पन्न करते रहते हैं तब तक उस विष से दोष के प्रकोप कीं वृद्धि होती है उससे रोग की वृद्धि होती रहती है इस प्रकार से

कीटाणूनां निमित्तकारणत्वमथ च कीटाणुनाशे परम्परया रोगोपादाननाशाद्रोगनाशः सम्भवति।

यत्तु निमित्तनाशान्न कार्यनाशः सम्भवतीति परिकरस्तस्यचायमभिप्रायः—कस्यचित् कार्यस्य निमित्त-कारणनाशात् तस्यैव कार्यस्य नाशो न सम्भवतीति। यत्र तु कस्यचित् कार्यस्य निमित्तनाशादपरकार्यस्योपा-दानोत्पत्तिर्विरमति तत्र यदि प्रागुत्पन्नोपादाननाशात् कार्यनाशस्तर्हि दार्शनिकनियमो न नश्यति। ननु वर्तितै-

---

कीटाणु रोग के निमित्तकारण बनते हैं अथच कीटाणु के नाश से परम्परासम्बन्ध से रोग के उपादान का नाश होकर रोग का नाश होता है। "निमित्तकारण के नाशसे कार्यद्रव्य का नाश नहीं होसकता है" दार्शनिकोंके इस प्रकारके आग्रह (जिद)का अभिप्राय यह है कि—किसी कार्य के निमित्तकारण के नाश से ही उस कार्य का नाश नहीं हो सकता है। जहां एक कार्य के निमित्तकारण के नाश से दूसरे कार्य के उपादान कारण की उत्पत्ति बन्द हो जाती है वहां पहिले उत्पन्न उपादान के नाश से यदि कार्य का नाश हो जावे तो दार्शनिकों का नियम भी नष्ट नहीं होता है।

यहां शंका होती है कि वर्ति और तैल को भी किसी टीकाकारने

लयोरपि प्रदीपनिमित्तकारणता टीकाकृद्भिरभिहितेति चेदुच्यते—नियतपरिमाणाभ्यां वर्तितैलाभ्यां नियतपरिमिता शिखोत्पद्यते वर्तितैलयोश्च शिखारूपेण परिणमनं भवतीति प्रयोगसिद्धमेव। तस्माद्वर्तितैलयोः शिखोपादानता वह्नेश्च-शिखाजनकतैव युक्तिप्रमाणसिद्धेति।

ननु यदि कीटाणुरपि निमित्तकारणमुच्यते कथमायुर्वेदे तस्योल्लेखो न दृश्यते, कथं वा कीटाणुनाशिनी चिकित्सा नोप-

---

प्रदीपका निमित्तकारण करके वर्णन किया है फिर भी उनको प्रदीप का निमित्तकारण न मानकर शिखा का उपादान क्यों माना जाता है? इसका उत्तर यह है कि नियतपरिमाण वर्ति और तैलसे नियत परिमाण शिखा उत्पन्न होती है वर्ति और तैल ही शिखा रूप में परिणत होते हैं यह तो प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त है अतएव वर्ति और तैल शिखा के उपादान हैं और अग्नि शिखा का जनक है यह सिद्धान्त ही युक्तिप्रमाणसिद्ध है।

फिर शंका होती है कि यदि कीटाणु को निमित्त कारण भी माना जावे तो आयुर्वेद में उनका वर्णन क्यों नहीं है तथा कीटाणु को नाश करने वाली चिकित्सा का उपदेश क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि आयुर्वेद में रोगों के मुख्य हेतु दोषों का ही

दिश्यते इति चेदुच्यते-आयुर्वेदे रोगाणां मुख्यहेतुर्दोष एव प्राधान्येन वर्णितश्चिकित्सा चापि प्राधान्येन दोषानुकूलाऽभिहिता। दोषप्रकोपकारणेषु कीटादीनामप्युल्लेखो विद्यते कीटवाहकानां मुषिकमशकादीनामप्युल्लेखो दृश्यते। यद्यपि दोषानुकूला-चिकित्सोपदिष्टायुर्वेदे तथापि विविधेषु योगेषु सर्वोत्तम-कीटनाशकानां द्रव्याणामुपयोगो वर्णित इति नायुर्वेदस्य न्यूनता कथमपि कल्पयितुं शक्यत इति। भवन्ति चात्र—

कारणस्यानुरूपं हि लिंगं रोगेषु दृश्यते।
विषन्तु कारणं यस्य तत्र लिंगं विषस्य हि॥

प्रधान रूप से वर्णन किया है। चिकित्सा भी प्रधानत: दोषानुकूल लिखी गई है। दोष प्रकोपक कारणों में कीटादि का उल्लेख भी है तथा कीटवाहक मच्छर चूहे आदि का भी उल्लेख देखा जाता है। यद्यपि आयुर्वेद में दोषानुकूल चिकित्सा लिखी गई है तथापि बहुत से योगों में सर्वोत्तम कीटाणुनाशक द्रव्यों के उपयोग भी वर्णित हुए हैं जिससे आयुर्वेद की न्यूनता की शंका किसी प्रकार से नहीं हो सकती।

कहा भी जाता है कि—रोगों में कारण के अनुरूप लक्षण ही देखे जाते हैं। विष जिस रोग का कारण होगा उसमें केवल विष

दोषजन्येषु रोगेषु दोषलिंगं प्रदृश्यते ।
कुपितो यत्र यो दोषस्तत्र तल्लिंगमीच्यते ॥
यद्येषु दृष्टकीटेषु दुष्टदोषप्रधानता ।
तथापि दुष्टिहेतोर्हि विषस्योत्पादकः पुनः ॥
हेतुः कीटोऽपि वाच्यः स्यादन्वयव्यतिरेकतः ।
न साक्षात् कारणं कीटो नातस्तस्य प्रधानता ॥
निदाने वा चिकित्सायां वैद्यके त्वनुषंगिता ।
यतः सर्वेषु रोगेषु वातादीनां प्रधानता ॥

के अनुसार लक्षण होंगे, दोषज रोगों में दोष के लक्षण देखे जाते हैं, जहां जो दोष कुपित है वहां उस दोष के लक्षण मालूम पड़ते हैं। यद्यपि जिन रोगों में कीटाणु देखने में आते हैं उनमें भी दुष्ट दोषों की प्रधानता है तथापि दुष्टि के कारण विष को उत्पन्न करने वाले कीटाणु को भी अन्वय और व्यतिरेक से निमित्त-कारण कहना पड़ता है। कीटाणु रोगों का साक्षात् कारण नहीं हैं अतः वैद्यक के निदान या चिकित्सा में कीटाणु को मुख्य स्थान न देकर आनुषंगिक माना गया है। क्योंकि सब ही रोगों में वातादि की प्रधानता है अतः रोगज्ञानार्थियों को वातादि को विशेष

विज्ञेयास्ते ततः सम्यग्रोगज्ञानार्थिभिः सदा ॥

इति वातादिनां शारीररोगेषु प्राधान्यख्यापनाख्यो
दशमोऽध्याय. समाप्तः ।

रूप से जानना अत्यन्त आवश्यक है ।

* इति *

ग्रन्थकारपरिचयः

बंग्यकोटालिपाडान्तर्गचापाडानिवासिना ।
कायस्थकुलजातेन राजमोहनसूनुना ॥
उपेन्द्रनाथदासेन दासेन ज्ञानिनां सताम् ।
एतत्त्रिदोषविज्ञानमतियत्नाद्विनिर्मितम् ॥

ग्रन्थकार का परिचय

बंगदेश में कोटालिपाड़ा नामक स्थान के अन्तर्गत गचापाड़ा
ग्राम निवासी, कायस्थवंशजात स्वर्गत राममोहनदास
के पुत्र ज्ञानियों के दास उपेन्द्रनाथदास ने इस
"त्रिदोषविज्ञान" को अत्यन्त परिश्रम से
बनाया है ।

समर्पणम्

उमाचरणचित्तेन सदोमाचरणार्थिना ।
यदुमाचरणादाप्तं तदुमाचरणेऽर्पितम् ॥
विज्ञानां पावनी दृष्टिर्यद्यत्रेशानुकम्पया ।
पतति दोषविज्ञानं पूतं भविष्यतीतिशम् ॥

उमाचरण (कालिकाजी के चरण तथा निज गुरु) में जिसका चित्त लगा हुआ है तथा सर्वदा उमाचरण को चाहनेवाले ग्रन्थकार ने उमाचरण की सेवा से जो कुछ प्राप्त किया था उसी को उमाचरण में समर्पित किया ।

यदि परमेश्वरकी कृपासे विद्वानों की पवित्र करने वाली दृष्टि इस 'त्रिदोषविज्ञान' पर पतित हो तो यह भी पवित्र हो जावेगा ।